श्री नमस्कार महामंत्र

श्री नमस्कार महामंत्र

।। नमो अरिहंताणं ।।
।। नमो सिद्धाणं ।।
।। नमो आयरियाणं ।।
।। नमो उवज्झायाणं ।।
।। नमो लोए सव्वसाहूणं ।।
।। एसो पंच नमुक्कारो,
सव्व पावप्पणासणो ।
मंगलाणं च सव्वेसिं;
पढमं हवइ मंगलं ।।

लेखक
पू.पंन्यास प्रवर श्री भद्रंकरविजयजी गणिवर्य

हिन्दी-संपादक
प.पू. आ. श्रीमद् विजय **रत्नसेनसूरीश्वरजी** म.सा.

श्री नमस्कार महामंत्र

गुजराती-लेखक

सिद्धांत महोदधि, कर्म साहित्य निष्णात पूज्य आचार्यदेव
श्रीमद् विजय ***प्रेमसूरीश्वरजी म.सा.*** के पट्टधररत्न
परम शासन प्रभावक व्याख्यान वाचस्पति पूज्य आचार्यदेव
श्रीमद् विजय ***रामचन्द्रसूरीश्वरजी म.सा.*** के तेजस्वी शिष्यरत्न,
नमस्कार महामंत्र के बेजोड साधक अध्यात्मयोगी भावाचार्य तुल्य
पूज्यपाद पंन्यासप्रवर **श्री भद्रंकरविजयजी गणिवर्य**

हिन्दी-संपादक

निःस्पृहमूर्ति पूज्यपाद पंन्यास प्रवर **श्री भद्रंकरविजयजी गणिवर्य**
के कृपापात्र चरम शिष्यरत्न जैन हिन्दी-साहित्य दिवाकर
परम पूज्य आचार्यदेव श्रीमद् विजय **रत्नसेनसूरीश्वरजी म.**

226

-: प्रकाशक :-

दिव्य संदेश प्रकाशन

C/o. सुरेन्द्र जैन, Office No. 304, 3rd Floor,
बे व्यु बिल्डींग, विंग-ईस्ट बे, डॉ. एम.बी. वेलकर स्ट्रीट,
कालबादेवी, मुंबई-400 002.
M.8484848451 (only whatsapp)

आवृत्ति : दूसरी • **मूल्य :** 180/- रुपये • **प्रतियां :** 1000
विमोचन स्थल : संभवनाथ जैन मंदिर, कार्टर रोड, बोरीवली (East), मुंबई, **विमोचन तारीख :** रविवार, दि. 15-5-2022

आजीवन सदस्य योजना

आजीवन सदस्यता शुल्क - 3000/- रु.

- आप जैन धर्म के रहस्य-जैन इतिहास-जैन तत्त्वज्ञान-जैन आचार मार्ग, प्रेरणादायी कथाएँ आदि का अध्ययन करना चाहते हों तो आज ही आप दिव्य संदेश प्रकाशन मुम्बई की आजीवन सदस्यता प्राप्त कर लें। सदस्य बनते ही अध्यात्मयोगी निःस्पृह शिरोमणि स्व. पूज्यपाद पंन्यासप्रवर **श्री भद्रंकरविजयजी गणिवर्यश्री** एवं उन्हीं के चरम शिष्यरत्न प्रवचन प्रभावक परम पूज्य ***आचार्यदेव श्रीमद् विजय रत्नसेनसूरीश्वरजी म.*** सा. द्वारा लिखित उपलब्ध 10 पुस्तकें दी जाएगी और **अर्हद् दिव्य संदेश** मासिक तथा भविष्य में हिन्दी भाषा में प्रकाशित पुस्तकें (Open Book Exam साधु–साध्वी उपयोगी पुस्तके एवं पुनः मुद्रित पुस्तकों को छोडकर) घर बैठे प्राप्त होंगी। आप आजीवन सदस्यता शुल्क मुंबई या बैंगलोर के पते पर दिव्य संदेश प्रकाशन-मुंबई के नाम से चैक व ड्राफ्ट से भेजें।

प्राप्ति स्थान

1. चेतन हसमुखलालजी मेहता
भायंदर (M.S.)
M. 9867058940

2. प्रवीण गुरुजी
C/o. श्री आत्म कमल लब्धिसूरि जैन पुस्तकालय
श्री आदिनाथ जैन टेंपल,
चिकपेठ, बेंगलोर-560 053.
M. 9036810930

3. राहुल वैद
C/o. अरिहंत मेटल कं.,
4403, लोटन जाट गली,
पहाड़ी धीरज, सदर बाजार,
दिल्ली-110 006.
M. 9810353108

4. चंदन एजेन्सी
607, चीरा बाजार,
मुंबई-400 002.

आजीवन सदस्यता शुल्क
Rs. 3000/- भिजवाने का पता एवं पुस्तक-प्राप्ति-स्थान :

(1) दिव्य संदेश प्रकाशन
C/o. सुरेन्द्र जैन, Office No. 304, 3rd Floor, बे व्यु बिल्डींग, विंग-ईस्ट बे, डॉ. एम.बी. वेलकर स्ट्रीट, कालबादेवी, मुंबई-400 002. Mobile : 8484848451 (only whatsapp)

(2) दिव्य संदेश प्रचारक
प्रकाश बड़ोल्ला, 52, 3rd Cross, शंकरमट रोड, शंकरपुरा, बैंगलोर-560 004. Tel. (O.) 4124 7478 M. 8971230600

प्रकाशक की कलम से

बीसवीं सदी के महान योगी सूक्ष्म तत्वचिंतक परमोपकारी पूज्यपाद पंन्यास प्रवर **श्री भद्रंकरविजयजी गणिवर्यश्री** की 42 वीं स्वर्गारोहण पुण्यतिथि के पावन प्रसंग पर उन्हीं के द्वारा भागवती दीक्षा के बाद मात्र 7 वर्ष के संयम पर्याय में विक्रम संवत 1994 में आलेखित सर्व प्रथम पुस्तक **'श्री नमस्कार महामंत्र'** का उन्हीं के चरम शिष्यरत्न मरुधर रत्न **पू. आचार्यदेव श्रीमद् विजय रत्नसेनसूरीश्वरजी म.सा.** द्वारा हिन्दी भाषा में संपादित का प्रकाशन करते हुए हमें अत्यंत ही हर्ष हो रहा है ।

पू.मु. श्री भद्रंकरविजयजी म. की भागवती दीक्षा के समय उनकी शारीरिक रुग्नता को देखकर किसी वैद्य ने कहा था, **'ये सिर्फ 1000 दिन के महेमान हैं ।'**

पूज्य मुनिश्री ने जब यह जाना कि मेरी जिंदगी सिर्फ 3 वर्ष की ही है तो इस बात को जानकर हताश या भयभीत हुए बिना उन्होंने अपने जीवन को सफल व सार्थक बनाने के लिए नमस्कार महामंत्र की विशिष्ट आराधना साधना का निश्चय किया ।

चौदह पूर्वधर महर्षि भी जब अपने अंतिम समय में पूर्वों के ज्ञान को भूल जाते हैं, तब वे भी 14 पूर्वों के सारभूत **'नमस्कार महामंत्र'** की ही हार्दिक शरणागति का स्वीकार करते है ।

पूज्यश्री ने भी अपना समग्र जीवन नवकार को समर्पित कर दिया । उनके समस्त चिंतन व प्रवचन का केन्द्र बिंदु **'नवकार महामंत्र'** हो गया ।

नमस्कार महामंत्र की निर्मल साधना के फलस्वरुप ही उन्होंने अपने संयम जीवन के 49 वर्ष व्यतीत किए ।

उनकी शारीरिक स्थिति को देखते हुए डॉक्टरों के लिए भी यह एक Challenge था ।

कुछ भी हो नवकार की आराधना साधना में तो एकांत लाभ ही है ।

नवकार यह तो भवसागर को पार उतारनेवाली नौका है ।

इस पंचम काल में जहां साक्षात् तीर्थंकर-परमात्मा या गणधर आदि का साक्षात् योग नहीं है, ऐसे काल में प्रभु का नाम ही परम आधार व सहारा है ।

नवकार महामंत्र सर्वश्रेष्ठ मंत्र है, क्योंकि इसके माध्यम से हम अनंत अरिहंत आदि पंच परमेष्ठि-भगवंतों के संपर्क में आते है ।

इस जगत् में शब्दों का सर्वश्रेष्ठ संयोजन नवकार के 68 अक्षरों में ही है ।

पूज्यश्री ने शास्त्रों का गहन अध्ययन कर प्रस्तुत पुस्तक के माध्यम से जो **'नवनीत'** प्रस्तुत किया है, वह हमारे लिए अवश्य आदरणीय है ।

प्रस्तुत पुस्तक का स्वाध्याय कर सभी आत्माएं **'नवकार प्रेमी'** बनकर नवकार के परमहार्द को जीवन में आत्मसात् कर परमपद के भोक्ता बने, इसी मंगल कामना के साथ ।

संपादक के हृदयोद्गार

नमस्कार महामंत्र के बेजोड़ साधक, निःस्पृहशिरोमणि अध्यात्मयोगी **पूज्यपाद पंन्यास प्रवर श्री भद्रंकरविजयजी गणिवर्यश्री** के पुण्य नामधेय से भला कौन अपरिचित होगा ? जैन शासन के गगनागंण में एक तेजस्वी सितारे की भांति चमकते हुए अध्यात्मयोगी पूज्यपाद श्री का व्यक्तित्व हिमालय की भांति विराट् और सागर की भांति अत्यंत ही गंभीर था ।

आजानुबाहु, विशाल भाल, तेजस्वी नेत्र, गौर वर्ण तथा प्रशांत व गंभीर मुखमुद्रा से युक्त विराट् बाह्य व्यक्तित्व के धनी होने के साथ-साथ उनका अंतरंग व्यक्तित्व भी उतना ही महान् और चित्ताह्लादक था ।

उनके रोम-रोम में नमस्कार महामंत्र का गुंजन था । उनके जीवन की प्रत्येक श्वास **'जिन चरणों'** में समर्पित थी । उनके नेत्रों में से सदैव करुणा का अजस्त्र स्त्रोत बहता रहता था ।

हे अनंतोपकारी गुरुदेव !

आज आपकी विदाई के 42 वर्ष बीत चुके है, परंतु आपके शुभ सान्निध्य में व्यतीत की गई उन पुण्य क्षणों की यादें आज भी तरोताजा हैं ।

वस्तु मात्र में परिवर्तन लाना, नई वस्तु को पुरानी बनाना, काल का अपना मुख्य स्वभाव है । इस छोटी-सी जिंदगी में आए दिन इतनी अधिक घटनाएं बनती रहती हैं कि उन सब स्मृतियों को **'स्मृति-पटल'** पर अंकित रखना कठिन हो जाता है और इसी कारण हम जीवन की बहुत-सी घटनाओं को स्मृति-पटल पर स्थिर रखने के बजाय उन्हें काल के प्रवाह में बहा देते हैं और उसके परिणामस्वरुप हम उन बहुत-सी घटनाओं को सदा के लिए भूल

जाते हैं...परंतु कल-कल कर बहती हुई नदी की भांति जीवन के इस प्रवाह में कुछ घटनाएं ऐसी अनोखी होती हैं कि युगों के युग बीत जाने के बाद भी हम उन्हें कभी भूल नहीं सकते ।

अध्यात्मयोगी पूज्यपाद गुरुदेव के शुभ-सान्निध्य एवं सत्संग आदि में व्यतीत की गई वे पलें भी इतनी महत्त्वपूर्ण हैं कि काल उन्हें कभी कवलित नहीं कर सकेगा ।

पूर्वाचार्य महर्षि ने ठीक ही कहा है, **''जिसके दिल में सद्गुरु का वास हो, उसे गुरु का विरह कभी नहीं होता है ।''**

सद्गुरु तो मोक्षमार्ग के सच्चे साथी हैं । वे स्वयं जिनाज्ञानुसार सन्मार्ग का अनुसरण करते हैं और अपने आश्रित वर्ग को भी उस मार्ग पर चलाते हैं । पुण्यानामधेय अध्यात्मयोगी पूज्यपाद गुरुदेव श्री भद्रंकरविजयजी गणिवर्यश्री मोक्षमार्ग के सच्चे संवाहक थे ।

पूज्यपाद गुरुदेवश्री के सान्निध्य में व्यतीत वे दिन याद आते हैं और हृदय आनन्द से भर जाता है । अपने आश्रित शिष्यगण आदि के योगक्षेम के लिए वे कितने जागरूक थे । मार्ग भूले पथिक को मार्ग पर लाने की उनकी कोई अद्भुत ही कला थी । अल्प शब्दों में...सौम्य भाषा में...और हृदय के वात्सल्यपूर्वक वे जो मार्गदर्शन देते थे, उसे सहज स्वीकार करने की इच्छा रहती थी ।

राता महावीरजी, राणकपुर आदि तीर्थों के उपधान, नवपद, ओली, नमस्कार महामंत्र के अनुष्ठान आदि के वे दिन याद आते हैं...और आंखों के आगे तत्कालीन पवित्र आराधनामय वातावरण की यादें तरोताजा हो जाती हैं ।

शांत और प्राकृतिक वातावरण से सुरम्य पवित्र तीर्थभूमि में पूज्यपादश्री के सान्निध्य में आराधना का अवसर पाना, यह भी जीवन का अनोखा आनंद था । प्रकृति की गोद में आए पवित्र तीर्थों में पूज्यपादश्री की वाणी का झरना जब-जब भी बहता था, उसके पान से एक आत्म-तृप्ति का अनुभव होता था ।

संवत् 1987 से 2036 तक के अर्धसदी संयम जीवन में जिन्होंने स्वात्म कल्याण तो किया ही, इसके साथ ही **'सवि जीव करूं शासन रसी'** की शुभ भावना से उनका हृदय ओतप्रोत होने से उन्होंने परोपकार करने में भी कोई कमी नहीं रखी ।

अनेकानेक मुमुक्षु / साधक आत्माओं ने अध्यात्ममार्ग में उनसे सुयोग्य मार्गदर्शन प्राप्त कर अपने जीवन को धन्य बनाया है ।

आज वे पूज्य गुरुदेव भौतिक देह के रूप में विद्यमान नहीं हैं, परंतु उनकी अमृत-वाणी का अक्षर देह तो विद्यमान है ही । उनकी वह अमृत-वाणी आज भी अनेक भव्यात्माओं की सुषुप्त चेतना को जागृत कर रही है ।

चारित्र जीवन के स्वीकार के बाद वि.सं. 1994 में पूज्य श्री द्वारा गुजराती भाषा में आलेखित **'श्री नमस्कार महामंत्र'** की गुजराती आवृत्ति का यह हिन्दी अनुवाद प्रस्तुत है ।

मुझे पूर्ण विश्वास है कि पूज्यश्री द्वारा आलेखित यह प्रकाशन हिन्दी भाषी पाठकों को अवश्य प्रेरणादायी सिद्ध होगा ।

चैत्री पूर्णिमा
वि.सं. 2078,
ओसवाल भवन,
रोहा (रायगढ-महाराष्ट्र)
दि. 16-4-20222 शनिवार

अध्यात्मयोगी पूज्यपाद पंन्यास
प्रवर **श्री भद्रंकरविजयजी गणिवर्य**
चरण चञ्चरिक
आचार्य रत्नसेनसूरि

लेखक की कलम से...

नमस्कार समो मंत्रः, शत्रुंजय समो गिरिः ।
वीतराग समो देवो, न भूतो न भविष्यति !

जैन शासन में उपरोक्त सुभाषित खूब प्रसिद्ध है । इसका अर्थ है, **''नवकार समान मंत्र शत्रुंजय समान पर्वत और वीतराग समान देव, भूतकाल में हुए नहीं है और भविष्य में होंगे भी नहीं ।''**

इस जगत् में मंत्र, पर्वत और देव तो बहुत है परंतु नवकार से बढकर मंत्र नहीं है और शत्रुंजय से बढकर एक भी पर्वत नहीं हैं तथा वीतराग से बढकर देव नहीं है ।

इसका परमार्थ यह है कि द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव इन चार रुप में विभक्त यह समग्र विश्व है । इस विश्व में अनंत जीव व पुद्गल द्रव्य है, लोक-अलोक के अनंत आकाश-प्रदेश प्रमाण क्षेत्र है । भूत, भविष्य और वर्तमान कालीन अनंतानंत समय हैं और अनंत अनंत गुण पर्याय रुप भाव है ।

उन सभी द्रव्यों में श्रेष्ठ द्रव्य कौनसा है ? सभी क्षेत्रों में श्रेष्ठ क्षेत्र कौनसा है ? सभी काल में सर्वोत्तम काल कौनसा है ? और सभी भवों में सर्वश्रेष्ठ भाव कौनसा है ? इस सभी प्रश्नों का जवाब इस श्लोक में बताया हैं ।

'सभी द्रव्यों में उत्तम द्रव्य वीतराग देव है । सभी क्षेत्रों में उत्तम क्षेत्र शत्रुंजय-सिद्धक्षेत्र है । सभी भावों में उत्तम भाव पंच परमेष्ठि नमस्कार भाव है और सभी काल में उत्तम काल जिस काल में इन तीन उत्तम वस्तुओं की पहिचान होती है – वह है' ।

इससे यह सिद्ध होता है कि-परमेष्ठी के नमन समान भाव, सिद्धात्माओं के द्वारा स्पर्श किए सिद्ध क्षेत्र समान क्षेत्र तथा मुक्ति की प्राप्ति में परम आलंबन भूत द्रव्यों में वीतराग देव के

समान उत्तम द्रव्य वर्तमानकाल में अन्य कोई नहीं है, भूतकाल में कोई नहीं था और भविष्यकाल में कोई नहीं होगा । यह बात आगम, युक्ति, अनुभव और इतिहास आदि किसी भी प्रमाण से सिद्ध की जा सकती है ।

प्रस्तुत ग्रंथ का विषय **नमस्कार महामंत्र है । शास्त्रों में मणि मंत्र और औषधियों की अचिंत्य शक्तियों का वर्णन मिलता है ।**

मणि-रत्न मूल्यवान होने के साथ साथ उनकी पाषाण जाति और कष्ट-रोग हर आदि शक्तियां प्रसिद्ध है । उसी प्रकार मंत्र पौद्गलिक शब्द रुप होने पर भी दुःख, दारिद्र्य, कष्ट, रोग, भय, उपद्रव आदि नाशक एवं अर्थ, काम, आरोग्य, अभिरति आदि इस जीवन के और आगामी जन्म में स्वर्ग आदि व मोक्ष आदि सुखदायक के रुप में प्रसिद्ध है ।

जैन शासन में नवकार मंत्र अर्थात् उसके 68 अक्षरों की रचनारुप पौद्गलिक शब्द सभी मंत्रों में शिरोमणि भूत है ।

व्याकरण शास्त्र में 52 अक्षर प्रसिद्ध है । जगत् के सभी शास्त्र 52 अक्षरों की ही परस्पर विचित्र प्रकार के संयोग से उत्पन्न रचना के रुप में प्रसिद्ध है ।

मात्र अक्षर संयोगरुप उसकी रचना अन्य सभी शास्त्रों से अलग ही है । इसी कारण वह **'महामंत्र'** कहलाता है । उसके प्रत्येक पद, अक्षर, संपदा आदि का विस्तृत वर्णन इस पुस्तक में किया गया है ।

68 अक्षर, नवपद और आठ संपदावाले इस छोटे से मंत्र को **'महाशास्त्र'** या **'महामंत्र'** की उपमा क्यों दी गई हैं ? इसका विस्तृत समाधान प्रस्तुत पुस्तक के सभी प्रकरणों में अलग अलग रीति से दिया गया है ।

किसी को प्रश्न हो सकता हैं कि इन 68 अक्षरों के समुह में अचिंत्य शक्ति संग्रहित हैं, ऐसा कैसे मान सकते हैं ?

इसका समाधान हैं कि अक्षर उसके समूह रुप पद, वाक्य और महावाक्य पौद्गलिक और जड होने पर भी चैतन्य और ज्ञान के अद्वितीय वाहक है । जिस प्रकार शब्द का अर्थ के साथ संबंध हैं, उसी प्रकार चेतन-आत्मा का ज्ञान और भाव के साथ भी संबंध है ।

जैसा शब्द होगा, वैसा ज्ञान, एवं जैसा शब्द होगा, वैसे भाव का आत्मा में प्रत्यक्ष अनुभव होता है ।

संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त मनुष्य और तिर्यंच, जिन्हें शब्द श्रवण के लिए श्रवणेन्द्रिय और उसके अर्थ को समझने के लिए **'मन'** मिला है । उनके ज्ञान और भाव ऊपर शब्द शक्ति अचिंत्य असर उत्पन्न करती हैं, यह बात अनुभव सिद्ध है ।

जिसके पास शब्द पर से अर्थ ज्ञान करने का क्षयोपशम नहीं हैं, उनके ऊपर भी अच्छे-बूरे अर्थ के वाचक शब्द का अच्छा-बूरा प्रभाव अवश्य देखने को मिलता है ।

जिस प्रकार शब्दों का अर्थ के साथ वाच्य-वाचक संबंध है उसी प्रकार आत्मा और उसके परिणामों के साथ भाव्य-भावक संबंध भी है ।

शब्द भावक है और आत्मा भाव्य है । आत्मा में ज्ञान आदि गुण हैं, उसी प्रकार रागादि भाव भी है । उन दोनों पर शब्दों का प्रभाव होता है ।

यद्यपि सभी जीव शब्दों के प्रभाव को ग्रहण करने योग्य नहीं होते है, फिर भी जो जीव योग्य हैं, उनके भावों पर योग्य-अयोग्य शब्दों की योग्य-अयोग्य असर होती ही है ।

शब्दों में योग्यता-अयोग्यता, उसके वाच्य पदार्थों की योग्यता अयोग्यता पर अवलंबित है ।

नवकार मंत्र के 68 अक्षर और उसके संयोग रुप नवपदों से वाच्य अर्थों की योग्यता खूब ऊंची है, सर्वश्रेष्ठ है । इस कारण उसके वाचक अक्षर और पद अर्थात् शब्दों की योग्यता भी सर्वोत्कृष्ट मानी जाती है ।

आत्मा के भावों को हिलाने के लिए, अशुद्ध भावों को दूर कर शुद्ध भाव प्रकट करने के लिए नवकार के 68 अक्षरों को 68 तीर्थ, 68 रत्न या अन्य लौकिक वस्तुओं की उपमा बहुत छोटी लगती है, यह बात इस पुस्तक में संग्रहित नवकार के स्तोत्रों को पढने से ख्याल में आती है ।

शास्त्रों के दो प्रयोजन होते है- (1) ज्ञान प्रकट करना (2) भाव पैदा करना ।

कइयों का कहना है कि नवकार में चौदह पूर्वों का संग्रह हैं, **'परंतु हमें तो उससे विशेष ज्ञान नहीं होता है ।'**

उन्हें सोचना चाहिए कि चौदह पूर्वों का ज्ञान भी जिस ज्ञान के आगे बिंदु तुल्य हैं, ऐसा केवलज्ञान । नवकार में जिन दो अरिहंत व सिद्धों को नमन किया जाता हैं, उनमें यह ज्ञान प्रकट है ।

नवकार से उन दोनों की पहिचान, अपनी आत्मा में केवलज्ञान के स्वरुप का निर्णय कराती हैं, वह प्रतीति और निर्णय ज्यों ज्यों दृढ बनता जाता हैं, त्यों त्यों आत्मा में रहा अनादि का मिथ्या मोह विलीन हो जाता है ।

मोह के सर्वथा विलय से आत्मा स्वयं केवलज्ञान स्वरुप बन जाती है ।

कोई प्रश्न कर सकता है कि यह ज्ञान तो दूसरे शास्त्रों से भी मिल सकता हैं तो फिर नवकार में क्या विशेषता हैं ?

उसका उत्तर हैं कि अकेले ज्ञान से किसी कार्य की सिद्धि नहीं होती है ।

ज्ञान का अपने भाव पर कितना असर हुआ हैं, उसके आधार पर ज्ञान की उपयोगिता अवलंबित है ।

आत्मा के भाव बदलने के लिए अर्थात् अनादि मिथ्याभावों को दूर कर उन्हें सम्यग् बनाने के लिए अन्य सभी शास्त्र और मंत्रों की अपेक्षा नवकार शास्त्र और नवकार मंत्र अधिक उपकारक है ।

उसके दो कारण है । एक तो नवकार की रचना संक्षिप्त होने से वह आबाल-गोपाल सर्वजन ग्राह्य शास्त्र रुप है और दूसरा वह सर्व मंत्र व रत्नों का उत्पत्ति स्थान है अतः सर्व मंत्र-संग्राहक रुप है ।

जगत् में जितने भी सत्य व सफल मंत्र हैं, उन सब में बीज के रुप में नवकार या उसके अंश रहे हुए है, इसी कारण वे फलदायक बनते है ।

सभी लोकोत्तर मंत्र और सभी लोकोत्तर शास्त्र का अंतिम तात्पर्य आत्मा के मोह का नाश करना है । उस मोह नाश का कार्य जितनी सरलता और वेग से नवकार द्वारा सिद्ध होता है, उतनी सरलता या वेग से अन्य किसी शास्त्र से शक्य नहीं है ।

सभी प्रामाणिक शास्त्र और जैन दर्शन के सभी प्रामाणिक महापुरुष इस बात को एक आवाज से स्वीकार करते है, इस कारण नवकार सभी देश व सभी काल में जैन संघ का प्राण है ।

जैन संघ के सभी संप्रदायों में प्रातः उठने से लेकर रात्रि शयन तक नवकार एक बार नहीं किंतु सैकडों बार गिना जाता है । मात्र एक दिन की संख्या का प्रमाण गिना जाय तो भी वह लाखों नहीं किंतु करोडों से भी अधिक हो जाता है ।

यद्यपि नवकार गिननेवाले सभी उसके नवकार के माहात्म्य को समझकर या विचारकर ही गिनते है, ऐसा नहीं हैं, फिर भी जैन संघ में अन्य सभी वस्तुओं की अपेक्षा नवकार का स्थान कितना अधिक हैं, यह ख्याल में आता है ।

यदि लाखों-करोडों की संख्या में प्रतिदिन नवकार गिने ही जाते है तो वे शुद्ध रीति से, अर्थ समझकर भावार्थ और परमार्थ से गिने जाय, यह भावना किसको नहीं होगी ? अर्थात् सब को होगी !

उस कार्य की सिद्धि में यह पुस्तक जितने अंश में उपयोगी बनेगी, उतने अंश में इसे तैयार करने में किया गया श्रम सार्थक गिना जाएगा ।

यह बात खास लक्ष्य में रखने जैसी हैं कि शास्त्रकारों ने नवकार का जो अपूर्व फल व माहात्म्य बताया है, वह **'भाव नमस्कार'** संबंधी है ।

'भाव नमस्कार', 'परमार्थ नमस्कार', 'अद्वेत नमस्कार' 'निश्चय नमस्कार' ये सभी एक ही अर्थ को बतानेवाले शब्द है ।

'द्रव्य नमस्कार', 'नाम नमस्कार', 'द्वैत नमस्कार', 'व्यवहार नमस्कार' ये सभी विपरीत अर्थ को बतानेवाले है ।

इस पुस्तक में नमस्कार का व्यावहारिक स्वरुप बताया है, अंतिम प्रकरण में निश्चय स्वरुप बताया है ।

निश्चय यह परमार्थ हैं और व्यवहार उसका साधन है । उसमें से किसी की भी उपेक्षा, मूल वस्तु की ही उपेक्षा है, अतः

नवकार के पारमार्थिक स्वरुप को आत्मसात् करने के लिए, दोनों स्वरुप के प्रति आदरवाला बनकर, दोनों का यथोचित अभ्यास कर अनादि के मोह-शत्रु का नाश करने के लिए उद्यमशील बनना चाहिए ।

जैनों के दो संप्रदाय (स्थानकवासी और तेरापंथी) पांच पद स्वरुप सिर्फ 35 अक्षर का नवकार मानकर गिनते हैं, जबकि मूर्तिपूजक श्वेतांबर संप्रदाय मूल मंत्र और उसकी चूलिका (33 अक्षर) के चार पद सहित 68 अक्षरवाला मानकर गिनते है । मूल मंत्र पांच पद प्रमाण हैं, इसमें किसी प्रकार का मतभेद नहीं है, जो मत भेद हैं, वह चूलिका के चार पद और उसके 33 अक्षरों को मूलमंत्र में गिनना या नहीं, इस विषय में है ।

इस पुस्तक के प्रकरण में अंतिम दश पूर्वधर श्री वज्रस्वामी और उन्होंने महानिशीथ सूत्र में दिए उल्लेख की साख देकर समग्र नवकार मंत्र को नौ पद, आठ संपदा और 68 अक्षरवाला बताया है ।

■ दिगंबर संप्रदाय के साहित्य में **'मूलाचार'** नाम का एक प्राचीन ग्रंथ हैं उसकी 514 वीं गाथा भी **'नमस्कार मंत्र'** की चूलिका से बराबर मिलती है । वह गाथा निम्न हैं–

'एसो पंच नमोयारो सव्व पावपणासणो ।
मंगलेसु य सव्वेसु, पढमं हवदि मंगलं ।।'

कुछ लोग नवकार को 68 अक्षर के बदले 67 अक्षर प्रमाण मानते है । पांच पद रुप या 67 अक्षरमय नवपद रुप मानकर भी जो नवकार को परम आदर से गिनते हैं और नवकार के प्रति अपनी भक्ति प्रदर्शित करते हैं, वे भी अभिनंदनीय है फिर भी इस विषय में जो वस्तु विचारणीय लगी है, उसे यहां निर्देश करते हैं–

'सभी शास्त्रों के प्रारंभ में मंगल, अभिधेय, संबंध और प्रयोजन ये चार वस्तुएं बताई जाती है ।' इन चारों को अनुबंध-चतुष्टय कहा जाता है ।

सभी शिष्ट पुरुषों को यह मान्य नियम है । इन चारों में से एक-एक की भी कमी से क्या नुकसान होता हैं, उसका वर्णन अन्य ग्रंथों में विस्तार से किया गया है ।

किसी ग्रंथ में ये चार या इन चारों में से किसी का वर्णन नहीं होता हैं, उसे भी उपलक्षण से या ग्रंथकार की शिष्टता की प्रमाणता से स्वीकार कर लिया जाता है ।

नवकार यह सिर्फ शास्त्र ही नहीं, बल्कि महाशास्त्र है । इतना ही नहीं, शास्त्रकारों ने जहां अन्य शास्त्रों को श्रुत स्कंध कहा है तो नवकार को महाश्रुत स्कंध कहा है, अतः उसमें अनुबंध-चतुष्टय अनिवार्य है ।

नवकार सर्वजन हितकारी शास्त्र हैं, अतः उसे सभी कोई सरलता से समझ सके, वैसी उसकी रचना होनी चाहिए ।

उपलक्षण या शिष्टजन प्रामाण्य से नवकार में अनुबंध चतुष्टय गर्भित रुप से रहा हुआ हैं–इस बात को विद्वद्वर्ग के सिवाय कोई नहीं समझ सकता हैं, अतः प्रकट रुप से अनुबंध चतुष्टय का स्थान होना ही चाहिए ।

मंगल, संबंध और अभिधेय तो मूलमंत्र में आ जाते हैं, सिर्फ प्रयोजन बाकी रहता है ।

किसी भी शास्त्र में प्रवृत्ति कराने के लिए शास्त्र का प्रयोजन व फल अवश्य बताना चाहिए । जब तक प्रयोजन न बताया जाय तब तक मंदबुद्धिवाला भी उसमें प्रवृत्ति नहीं करता है ।

कहा भी हैं–**'प्रयोजनमनुदिश्य मन्दोऽपि न प्रवर्तते ।'**

बुद्धिशाली पुरुष हमेशा प्रधान फलवाली अर्थात् श्रेष्ठ फलवाली प्रवृत्ति में ही आदर करते हैं ।

कहा भी हैं-**'फलप्रधानाः समारम्भाः ।'**

इस प्रकार मंद से लेकर बुद्धिमान पर्यंत सभी जीवों को सदाकाल नवकार में प्रवृत्ति कराने के लिए नवकार का प्रयोजन व फल नवकार में साक्षात् कहना चाहिए । जिससे सभी कोई उसमें सुखपूर्वक प्रवृत्ति कर सके ।

मंद प्रवृत्ति में तीव्रता लाने के लिए तथा शिथिल प्रवृत्ति में दृढता लाने के लिए भी उसकी जरुरत हैं, इस कारण चूलिका के प्रथम दो पदों में नवकार का प्रयोजन व अंतिम दो पदों में नवकार का फल साक्षात् कहकर उसे मूलमंत्र में जोडा हैं ।

मंद से लेकर बुद्धिमान पर्यंत सभी की श्रद्धा व भावना को दृढ करने के लिए तथा पंच परमेष्ठी नमस्कार मंत्र के स्मरण व जाप के पुरुषार्थ में अपूर्व वेग लाने के लिए वह अत्यंत कार्यसाधक बनता है ।

प्रत्येक मंत्र व अनुष्ठान, अनुष्ठान करनेवाले की श्रद्धा, भावना व पुरुषार्थ के अनुसार ही फल देता है ।

नमस्कार मंत्र निष्फल या निष्प्रयोजन नहीं हैं, परंतु महाप्रयोजन व महाफल को देनेवाला है । क्योंकि उससे सभी पापों का नाश होता हैं और वह सभी मंगलों में श्रेष्ठ मंगल को प्राप्त कराता है । इस प्रकार की श्रद्धा और भाव के पुरुषार्थ में प्रबल वेग व बल को लानेवाली है ।

चार गति रुप संसार में परिभ्रमण कर रहे जीवों के लिए सभी पापों के नाश से बढकर कोई श्रेष्ठ प्रयोजन नहीं हैं । तथा शुद्ध आत्मस्वरुप के लाभ से बढकर बडा फल नहीं है ।

पाप नाश से मूल सहित दुःख का नाश होता है और आत्म लाभ से अविनाशी सुख उत्पन्न होता है ।

'दुःख पापात् सुखं धर्मात्, सर्व शास्त्रेषु संस्थितिः'

अर्थात् पाप से दुःख और धर्म से सुख, यह सभी शिष्टजनों को मान्य सिद्धांत हैं ।

नवकार की चूलिका में यह स्पष्ट रुप से बताया गया है । अतः चूलिका सहित समग्र नवकार मंत्र समस्त जगत् के लिए हितकारी महामंत्र की गणना में आता है ।

दिशा निर्देश के रुप में इतना निर्देश कर प्रस्तुत पुस्तक को सिर्फ कथा रुप में या सामान्य पुस्तक के रुप में न गिनकर आत्मलाभ का परम साधन मानकर उसके स्वाध्याय और अभ्यास में प्रयत्नशील बनने की विनती करता हूँ !

मुनि भद्रंकरविजय

सिद्धक्षेत्र
भाद्रपद शुक्ला चतुर्थी
वीर संवत् 2473
विक्रम संवत् 2003

अनुक्रमणिका

क्रमांक	क्या ?	पृष्ट नं
1.	**नमस्कार स्तुति**	**1**
	श्रुतस्थविर महर्षिप्रणीत श्राद्धदिन कृत्य मलधारीय श्री हेमचन्द्रसूरि कृत	1
	उपदेश माला अथवा पुष्पमाला	4
	श्री चन्द्रप्रज्ञप्ति सूत्र	6
	मंगलाचरण	6
	श्री रत्नशेखरसूरि विरचित श्री श्राद्धविधि प्रकरण	6
2.	**महामंत्र एक परिचय**	**7**
	श्री नमस्कार महामंत्र	7
	नमस्कार महामंत्र (संक्षिप्त परिचय)	7
	अरिहंत	11
	छहकाय जीवों के गोपाल	13
	`अरिहंत' शब्द के पाठभेद	13
	`अरिहंत' पद का विशेष आख्यान	14
	सिद्धपद का विशेष आख्यान	16
	आचार्यपद का विशेष आख्यान	17
	उपाध्यायपद का विशेष आख्यान	18
	साधुपद का विशेष आख्यान	19
	नमस्कार की चूलिका का आख्यान	19
3.	**नमस्कार महामंत्र–प्रश्नोत्तरी**	**20**
4.	**श्री नवकार मंत्र का विस्तृत परिचय**	**48**
	श्री नवकारमंत्र की उत्पत्ति	51
	नयवाद	53
	नैगम नय	54
	संग्रह नय	63
	ऋजुसूत्र नय	64
	शब्द नय	65
	समभिरूढ़ नय	66
	एवंभूतनय	68
	परस्पर विरोध का समाधान	70
5.	**नमस्कार की उत्पत्ति**	**72**
	निक्षेपद्वार	79
	नाम और स्थापना नमस्कार	80
	द्रव्य–नमस्कार	80
	भाव नमस्कार	81

क्रमांक	क्या ?	पृष्ट नं
	नयों के अनुसार निक्षेपों का विचार	81
	पद द्वार	82
	पदार्थ द्वार	83
6.	**नमस्कार की व्याख्या**	**84**
	निर्देश	84
	स्वामित्व	85
	संग्रह नय उत्तर	86
	ऋजुसूत्रनय का उत्तर	87
	शब्द आदि नयों का उत्तर	88
	साधन	89
	अधिकरण	89
	स्थिति	90
	विधान	91
	नौ प्रकार से प्ररुपणा	91
7.	**पंच परमेष्ठी–नमस्कार के हेतु**	**94**
	श्रीअरिहंत परमात्मा	94
	मार्गदर्शक (सार्थवाह)	94
	निर्यामक	95
	महागोप	95
	राग–द्वेषादि को झुकाने वाले	95
	कषाय को झुकाने वाले	97
	इंद्रियों को झुकानेवाले	98
	इन्द्रियों की प्राप्ति का क्रम	99
	परिषहों को झुकानेवाले	100
	उपसर्गों को झुकाने वाले	100
	श्री सिद्ध परमात्मा	103
	आचार्य भगवंत	107
	उपाध्याय भगवंत	108
	साधु भगवंत	110
8.	**नमस्कार का प्रयोजन और फल**	**112**
9.	**नवकार का उपधान**	**121**
	वंदना की महत्ता	121
	सर्वप्रधान नमस्कार	122
	निर्युक्ति और व्याख्या	122
	अमोघ अवलंबन	122
	उपधान तप की आवश्यकता	123
	उपधान तप का विधान	123

क्रमांक	क्या ?	पृष्ट नं
	उपधान को न माननेवाला आज्ञाविराधक	124
	चित्त की एकाग्रता कब होती है ?	130
10.	**नवकार का ध्यान**	**133**
	ध्यान का सुख–दुःख के साथ संबंध	133
	विषयों में शुभाशुभ की कल्पना	134
	चैतन्य के तीन विभाग	135
	पवित्र पदों से सालबंन ध्यान	136
	फल के बारे में शंकाएँ अयोग्य हैं	141
	नमस्कारमंत्र गिनने की विधि	144
	हस्तजप की विधि	145
11.	**सर्वोत्कृष्ट भावमंगल**	**148**
	नमस्कारमंत्र में आठ प्रकार की सिद्धियाँ	150
12.	**नवकार का अधिकारी**	**156**
	पंचपरमेष्ठियों के पाँच उपकार	161
	अरिहंतों का उपकार–मार्गदर्शन	161
	सिद्धों का उपकार–अविनाशिता	162
	आचार्यों का उपकार–आचार	162
	उपाध्यायों का उपकार–विनय	162
	साधुओं का उपकार–सहायता	163
13.	**नमस्कार का निश्चय स्वरूप**	**164**
	निश्चय रत्नत्रय	175
14.	**आचार्य श्रीसिद्धसेनसूरि विरचित**	**177**
	श्री नमस्कार माहात्म्य (भावानुवाद) प्रकाश पहला	177
	दूसरा प्रकाश	178
	तीसरा प्रकाश	179
	चौथा प्रकाश	180
	पाँचवाँ प्रकाश	180
	छठा प्रकाश	183
	सातवाँ प्रकाश	187
	आठवाँ प्रकाश	191
15.	**नमस्कार के स्त्रोत्र**	**192**
	नवकारफल प्रकरणम्	192
16.	**बृहन्नमस्कारफलस्त्रोत्रम्**	**197**
17.	**महामंत्र–महिमा**	**217**
	नवकार महिमा	221
	प्रकीर्णक	222

नमस्कार स्तुति

श्रुतस्थविर महर्षिप्रणीत श्राद्धदिन कृत्य

निसाविरामंमि विबुद्धएणं, सुसावएणं गणसायरेणं ।
देवाहिदेवाण जिणुत्तमाणं, किच्चो पणामो विहिणायरेणं ।।1।।

चार घडी (96 मिनीट) बाकी रहे तब निद्रा का त्याग करके, अक्षुद्रता आदि बहुत गुणों का धारक सुश्रावक, भवनपति आदि देवों तथा उनके अधिपति इन्द्रों के द्वारा भी जो पूजनीय है, तथा सामान्य केवलिओं में उत्तम ऐसे देवाधिदेव जिनेश्वर भगवंतों को बहुमान पूर्वक प्रणाम करना चाहिए ।

सिज्जाट्ठाणं पमुत्तूणं, चिट्ठिज्जा धरणीयले ।
भावबंधुं जगन्नाहं, नमुक्कारं तओ पढे ।।2।।

पलंग आदि शय्यास्थान को छोडकर खड़ा हो अथवा जमीन पर बैठे, और सर्वत्र सहायता करनेवाले होने से परमार्थ बंधु तुल्य, अप्राप्त गुणों को प्राप्त करानेवाले, एवं प्राप्त ज्ञानादि गुणों का रक्षण करने वाले विश्वस्वामी को नमस्कार करे अथवा परावर्तन करे ।

मंताण मंत्तो परमो इमुत्ति, धेयाण धेयं परमं इमुत्ति ।
तत्ताण तत्तं परमं पवित्तं, संसार सत्ताण दुहाहयाणं ।।3।।

(शारीरिक और मानसिक दु:खो से तथा राग-द्वेष आदि के संतापों से संतप्त बने हुए चार गतियों के भव्य जीवों के लिए) यह नवकार महामंत्र द्रव्य और भाव-दोनों प्रकार के विष का हरण करनेवाला होने से गारुडिक आदि सभी मंत्रों में प्रधान मंत्र है । सभी इच्छित अर्थों का साधक होने से सभी ध्येयों में परम ध्येय है । और कर्ममल के कलंक को दूर करनेवाला होने सभी तत्त्वो में, सभी परमार्थभूत पदार्थों में, अतिशय पवित्र तत्त्व है ।

ताणं अन्नं तु नो अत्थि, जीवाणं भवसायरे ।
बुड्डंताणं इमं मुत्तुं, नमुक्कारं सुपोययं ।।4।।

भवसागर में डुबते जीवों के लिए यह नवकार रुपी नौका के सिवाय अन्य कोई भी रक्षण करनेवाला नहीं है ।

अणेगजंमंतर संचियाणं, दुहाणं सारीरियमाणसाणं ।
कत्तो अ भव्वाण भविज्ज नासो, न जाव पत्तो नवकारमंतो ।।5।।

जब तक नवकार मंत्र प्राप्त नहीं हुआ हो, तब तक भव्य जीवों के अनेक जन्मांतर संचित शारीरिक और मानसिक रोग-शोक आदि दु:ख एवं उसके कारण रुप कर्मों का नाश कैसे हो ?

जलणाइ भए सव्वं (सेसं), मुत्तुं एगंपि जहा महारयणं ।
अहवाडरिभए गिन्हइ, अमोह सत्थं जह तहेह ।।6।।

मुत्तुंपि बारसंगं, स एव मरणंमि कीरए जम्हा ।
अरिहंतनमुक्कारो, तम्हा सो बारसंगत्थो ।।7।।

जैसे अग्नि आदि के भय में, व्यक्ति अन्य सभी कण-रुइ आदि छोड कर वैडूर्य आदि अग्निशामक महारत्न को ग्रहण करता है । तथा दुश्मन के भय में शक्ति (भाला) आदि अमोध शस्त्र को ग्रहण करता है । वैसे ही श्रुतकेवली भी मरण के समय में द्वादशांग श्रुत को छोडकर नवकार मंत्र का ही एक मात्र स्मरण करते है । इसीलिए इन अरिहंत को नमस्कार, उपलक्षण से सिद्ध आदि परमेष्ठिओं को नमस्कार करना यही द्वादशांग का अर्थ, रहस्य अथवा सार है ।

तप्पणईणं तम्हा, अणुसरियव्वो सुहेण चित्तेण ।
एसो व नमुक्कारो, कयन्नुयं मन्नमाणेणं ।।8।।

इसीलिए इन नवकार मंत्र को, सूत्र से प्रणयन करनेवाले गणधर भगवंत और अर्थ से प्रकाशित करनेवाले तीर्थंकरों के प्रति आत्मा की कृतज्ञता अथवा कृतार्थता मानने के द्वारा शुभ चित्त से स्मरण और ध्यान करना चाहिए ।

नवकारओ अन्नो सारो मंतो न अत्थि तियलोए ।
तम्हा हु अणुदिणं चिय, पढियव्वो परमभत्तीए ।।9।।

तीनो लोक में नवकार मंत्र से अधिक अन्य कोई सारभूत मंत्र नहीं है । इसलिए प्रतिदिन परम भक्ति से उसका स्मरण करना चाहिए ।

उरगाईण वि मंता अविहीए उ अहिज्जिया ।
विसं जओ न नासंति, तम्हा उ विहिणा पढे ।।10।।

सांप आदि वशीकरण या विषनाश मंत्र भी अविधि से पढने पर विषनाश आदि का कार्य नहीं करते है, इसलिए विनय-बहुमान आदि विधि से नवकार मंत्र का पठन, स्मरण, परावर्तन या अध्ययन करना चाहिए ।

इहलोगंमि तिदंडी सादिव्वं माउलिंगवणमेव ।
परलोए चंडपिंगल-हुंडियजक्खो य दिट्ठंता ।।11।।

नवकार के स्मरण करने से इसी जन्म में त्रिदंडी शिवकुमार श्रावक पुत्र को सुवर्ण पुरुष, श्रीमती को देवता का सान्निध्य और बीजोरा के वन से सूचित जिनदास श्रावक को जीवनदान प्राप्त हुआ है । परलोक में चंडपिंगल चोर और हुंडिक नाम के यक्ष के उदाहरण कहे गए है । इन उदाहरणों का भावार्थ पुलिंद्रमिथुन नाम के कथानक से जानें ।

मलधारीय श्री हेमचन्द्रसूरि कृत उपदेश माला अथवा पुष्पमाला

उक्कोसो सज्झाओ, चउदसपुव्वीण बारसंगाइं ।
तत्तो परिहाणीए, जाव तयथ्थो नमोक्कारो ।।1।।

उत्कृष्ट स्वाध्याय चौदह पूर्वधरों को बारह अंग का होता है । महाप्राणध्यान आदि के प्रभाव से चौदह पूर्वधर महात्मा अंतर्मुहूर्त आदि काल में चौदह पूर्वो का परावर्तन करते है । वैसे ही दश पूर्वधर महात्मा दश पूर्वों का, नौ पूर्वधर महात्मा नौ पूर्वो का, इसी क्रम से घटते-घटते तब तक जानना जब तक जिसे कुछ भी नहीं आता हो, उसके लिए पंच परमेष्ठि नमस्कार का स्वाध्याय होता है क्योंकि नमस्कार महामंत्र यह द्वादशांगी का अर्थ अथवा सार है ।

जलणाइ भए सेसं मोत्तुं इक्कंपि जह महारयणं ।
घिप्पइ संगामे वा, अमोहसत्थं जह तहेह ।।2।।

मोत्तुंपि बारसंगं, स एव मरणंमि कीरए जम्हा ।
अरहन्त नमोक्कारो, तम्हा सो बारसंगत्थो ।।3।।

अग्नि आदि का भय आने पर शेष वस्तु को छोडकर मात्र एक महारत्न को ग्रहण किया जाता है, क्योंकि वैसे करने से वहाँ से पलायन आदि क्रिया सुखपूर्वक हो सकती है । अथवा संग्राम में लकडी, तलवार, भाला आदि को छोडकर, अमोघ ऐसे शक्ति आदि शस्त्र को ग्रहण किया जाता है । उसी प्रकार यहाँ भी मरण आने पर तब उस अवस्था में स्मरण करने के लिए अशक्य ऐसे द्वादशांगी को छोडकर उन्हीं अरिहंत आदि परमेष्ठिओं को नमस्कार किया जाता है । द्वादशांगी के स्थान पर जो किया जाता है उसे ही द्वादशांगी का अर्थ मानना चाहिए ।

सव्वंपि बारसंगं परिणाम विशुद्धिहेउमित्तागं ।
तक्कारणमित्ताओ किह न तयत्थो नमोक्कारो ? ।।4।।

समस्त द्वादशांगी की रचना परिणाम की विशुद्धि के लिए है । इसलिए परिणाम विशुद्धि में कारणभूत ऐसे नमस्कार को द्वादशांगी का अर्थ क्यों नहीं कहा जाय ? **'नमस्कार'** यह परम पुरुष परमेष्ठिओं के नामोत्कीर्तन रुप होने से परिणाम विशुद्धि का कारण मात्र स्वरुप है । इसलिए उसे बारह अंग के अर्थभूत या सारभूत अवश्य कहा जाता है ।

न हु तंमि देसकाले, सक्को बारसविहो सुयक्खन्धो ।
सव्वो अणुचिन्तेउं, धन्तंपि समत्थचित्तेणं ।।5।।

जब मरण आदि आता है तब उस देश-काल में अत्यंत समर्थ चित्तवालों को भी समस्त द्वादशांग श्रुतस्कंध का अनुचिन्तन नहीं हो सकता है, इसलिए उस अवस्था में बारह अंग से साध्य अर्थ का साधक होने से और सुखपूर्वक स्मरण शक्य होने से नमस्कार का स्मरण ही करने लायक है ।

नामाइ मंगलाणं पढमं चिय मंगलं नमोक्कारो ।
अवणेइ वाहितक्कर-जलणाइ भयाइं सव्वाइं ।।6।।

नाम मंगल-स्थापना मंगल-द्रव्यमंगल आदि मंगलों में यह नमस्कार प्रथम मंगल है । तथा व्यधि, चोर और अग्नि आदि के सभी भयों को दूर करता है ।

हरइ दुहं कुणइ सुहं, जणइ जसं सोसए भव समुद्दं ।
इहलोय पारलोइय, सुहाण मूलं नमोक्कारो ।।7।।

यह नमस्कार – दु:खों का नाश और सुख को पैदा करता है । यश को उत्पन्न करता है और भव समुद्र का शोषण करता है तथा इसलोक और परलोक के सभी सुखों का मूल है ।

श्री चन्द्रप्रज्ञप्ति सूत्र

मंगलाचरण

नमिऊण असुरसुरगरुलभुयगपरिवन्दियं ।
गयकिलेसअरिहे, सिद्धायरियवज्झायसाहूय ।।1।।

असुर, सुर, गरूड और भुजंगो के द्वारा परिवंदित तथा क्लेश रहित ऐसे अरिहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधुओं को नमस्कार करके...

श्री रत्नशेखरसूरि विरचित श्री श्राद्धविधि प्रकरण

नासेइ चोरसावय विसहरजलजलणबंधणभयाइं ।
चिन्तिज्जन्तो रणरायभयाइं भावेण ।।1।। (श्री महानिशीथ)

भाव से चिंतन किये जाने वाला यह नमस्कार-चोर, पशु, सांप, जल, अग्नि, बंधन, राक्षस, रण संग्राम और राजा की ओर से होने वाले भयों का नाश करता है ।

सिज्जाठाणे पमुत्तूणं, चिट्ठिज्जा धरणीयले ।
भावबन्धुं जगन्नाहं, नमोक्कारं तवो पठे ।।2।। (श्राद्धदिनकृत्य)

शयन स्थान (पलंग) आदि का त्याग कर, जमीन पर बैठकर परमार्थ बन्धुभूत और तीन जगत के नाथ श्री परमेष्ठि भगवंतों को नमस्कार करना चाहिए ।

जामिणि पच्छिम जामे, सव्वे जग्गन्ति बालवुड्ढाइ ।
परमिट्ठिपरमयंतं, भजन्ति सत्तट्ठवाराओ ।।3।। (यतिदिनचर्या)

रात्रि के अंतिम प्रहर में बाल-वृद्ध आदि सभी मुनि जागृत हो जाते है और परमेष्ठि परम मंत्र का सात-आठ बार स्मरण करते है ।

2

महामंत्र एक परिचय

श्री नमस्कार महामंत्र

नमो अरिहंताणं ।।1।।
नमो सिद्धाणं ।।2।।
नमो आयरियाणं ।।3।।
नमो उवज्झायाणं ।।4।।
नमो लोए सव्वसाहूणं ।।5।।

पद–5 संपदाएँ (यति)–5, गुरु अक्षर–3, लघु अक्षर–32, कुल अक्षर–35

श्री नमस्कार महामंत्र की चूलिका:

एसो पंच नमुक्कारो ।।6।।
सव्व पावप्पणासणो ।।7।।
मंगलाणं च सव्वेसिं ।।8।।
पढमं हवइ मंगलं ।।9।।

पद–4, संपदाएँ (यति)–3, गुरु अक्षर–4, लघु अक्षर 29, कुल अक्षर–33 चूलिका के साथ समग्र श्री नमस्कार महामंत्र के कुल अक्षर–68

नमस्कार महामंत्र (संक्षिप्त परिचय)

श्री पंचपरमेष्ठि महामंत्ररूप नमस्कार सूत्र में कुल अड़सठ अक्षर हैं। पहले पाँच पदों में पैंतीस अक्षर और चूलिका के तैंतीस अक्षर मिलाकर अड़सठ–अक्षरों में पंचपरमेष्ठि नमस्कार महामंत्र पूरा होता है। नवकार में जो नौ पद गिने जाते हैं, वे **विभक्त्यन्तं** पदम्–जिसके अंत में विभक्ति है, वह पद है–इस अर्थ में नहीं है, बल्कि **नमो अरिहंताणं** आदि विवक्षित मर्यादा युक्त पद **नमस्कार महामंत्र** में नौ हैं, इस अर्थ में हैं। नवकार के नौ पदों में पहले पद में सात, दूसरे पद में पाँच,

तीसरे पद में सात, चौथे पद में सात, पाँचवें पद में नौ, छठे पद में आठ, सातवें पद में आठ, आठवें पद में आठ और नौवें पद में नौ अक्षर हैं। इस प्रकार प्रत्येक पद के अक्षरों को मिलाया जाए तो अड़सठ अक्षर होते हैं।

नौ पदों के नवकार में संपदाएँ (यतियाँ) आठ हैं। संपदा यानी यति, विश्रामस्थान या महापद। इसलिए नवकार की उपधान (विशिष्ट व्रत) विधि में नवकार को आठ अध्ययनस्वरूप गिन कर प्रत्येक अध्ययन के लिए एक–एक आयंबिल इस हिसाब से आठ आयंबिल करने का आदेश है।

नौ पदों की संपदाएँ आठ कैसे गिनी जाएँ, इसका उत्तर दो प्रकार से है–पहला उत्तर पहले सात पदों की सात संपदाएं समान हैं और अंतिम दो पदों की सत्रह अक्षरों के बाद आठवीं संपदा है। **'मंगलाणं च सव्वेसि, पढमं हवइ मंगलं'** इन दो पदो के कूल सत्रह अक्षर हैं।

दूसरा उत्तर–छठी संपदा दो पद प्रमाण सोलह अक्षरों की है। जैसे–**'एसो पंच नमुक्कारो, सव्व पावप्पणासणो।'** में सोलह अक्षर हैं।

इस प्रकार नौ पदयुक्त और पैंतीस अक्षरों का मूल मंत्र और तैंतीस अक्षरों की चूलिका, कुल अड़सठ अक्षरयुक्त महामंत्र को आठ संपदाओं के साथ भक्तियुक्त होकर ध्यान करने से शाश्वत स्थान की प्राप्ति होती है–यह बात **'श्री चैत्यवंदनभाष्य', 'श्री प्रवचन सारोद्धार', 'श्री नमस्कार–पंजिका'** आदि अनेक शास्त्रों में कही गई है।

श्री महानिशीथ सिद्धांत में भी नवकार को स्पष्ट रीति से अड़सठ अक्षरों का बताया गया है। वहाँ कहा गया है कि **'इस प्रकार पंचमंगल महा श्रुतस्कंध की व्याख्या महाप्रबंध के रूप में सूत्र से पृथक्भूत निर्युक्तियों, भाष्यों और चूर्णियों के द्वारा अंनत दिशाओं में जैसे अनंत ज्ञान के धारक तीर्थंकर देवों द्वारा की गई है, उसी रीति से संक्षेप में की गई थी, लेकिन कालहानि के दोष से निर्युक्तियाँ, भाष्य और चूर्णियाँ नष्ट हो गई हैं, उपलब्ध नहीं हैं।'**

कालक्रम से अनेक बड़ी ऋद्धियों के स्वामी, पदानुसारी लब्धिधारी और द्वादशांगश्रुतधारक श्री वज्रस्वामीजी हुए । उन्होंने इस पंचमंगल महाश्रुत का उद्धार मूलसूत्र **('महानिशीथ सिद्धांत')** में किया ।

यह मूल मन्त्र से श्री गणधर भगवंत और अर्थ से त्रैलोक्यपूज्य धर्मतीर्थंकर अरिहंत भगवंत श्री वीर जिनेन्द्र द्वारा प्ररूपित है, यही वृद्ध संप्रदाय है ।

मूल सूत्र में जहाँ **सूत्रालापक** एक पद के साथ दूसरा पद इस तरह जुड़े हुए न मिलें वहाँ गलत कहा है, ऐसा दोष श्रुतधरों को नहीं देना चाहिए ।

मथुरा नगरी में श्री सुपार्श्वनाथ स्वामीजी के स्तूप के सामने पंद्रह दिन उपवास करने से प्रसन्न हुई शासनदेवी ने दीमकों के खाने से खंड–खंड हुई और सड़े हुए पृष्ठों की मूल प्रति जैसे दी, उसी रूप में ग्रहण की ।

आचार्य **हरिभद्रसूरिजी** ने अचिंत्य–चिंतामणिकल्प होने वाले इस **'महानिशीथ'** श्रुतस्कंध को समस्त प्रवचनों का सारभूत, परमतत्त्वयुक्त, अतिशययुक्त और महान् अर्थों के समूहरूप जानकर, प्रवचनवत्सलता से तथा भव्य सत्त्वों के प्रति उपकार बुद्धि से आत्महितार्थ जो उस प्रति में देखा, उसे अपनी बुद्धि से सुधार कर लिखा ।

उसको अन्य भी श्री सिद्धसेन, वृद्धवादी, यक्षसेन, देवगुप्त, यशोवर्धन, क्षमाश्रमण शिष्य रविगुप्त, नेमिचंद्र, जिनदासगणि क्षमाश्रमण, सत्यश्री आदि तत्कालीन श्रुतधरों ने बहुमान पूर्वक स्वीकार किया है ।

'श्री महानिशीथ' को छोड़कर अन्य वर्तमान जैन धर्मशास्त्रों/आगमों में इस प्रकार नौ पद और आठ संपदाओं से युक्त नमस्कार अन्यत्र किसी जगह नहीं मिलता है । **'श्री भगवती सूत्र'** के प्रारंभ में सिर्फ पाँच ही पद कहे गए हैं ।

प्रत्याख्यान निर्युक्ति में **'नमो अरिहंताणं'** कह कर नवकारशी पच्चक्खाण पारने को कहा है । उस निर्युक्ति की चूर्णि में कहा है कि

नवकार के पद या तो दस या छह हैं । छह पद **नमो अरिहंत सिद्ध आयरिय उवज्झाय साहूणं** उस प्रकार हैं तो दस पद **'नमो अरिहंताणं' 'नमो सिद्धाणं'** इस प्रकार नमो सहित पाँच–पाँच पद, कुल मिलाकर दस हैं ।

'नमस्कार निर्युक्ति' में अस्सी पदों से युक्त अन्य बीस गाथाएँ हैं । जैसे **'अरिहंत नमुक्कारो जीवं मोएइ भव सहस्साओ'** आदि । लेकिन ये गाथाएँ नवकार के माहात्म्य का प्रतिपादन करने वाली हैं । वे नवकार होने की दृष्टि से योग्य नहीं हैं, क्योंकि वे अनेक पदस्वरूप हैं और नवकार तो सिर्फ नौ पद स्वरूप ही है ।

इस प्रकार परमागम सूत्रांतर्गत श्री वज्रस्वामी आदि दशपूर्वधर, बहुश्रुत और संविग्न सुविहितसूरि पुरंदरों द्वारा की गई व्याख्याओं से सम्मानित और अंतिम पद में **'हवइ'** इस प्रकार के पाठ से युक्त अड़सठ अक्षरों वाले परिपूर्ण नवकारसूत्र का अध्ययन इस प्रकार करना चाहिए–

नमो अरिहंताणं ।।1।।
नमो सिद्धाणं ।।2।।
नमो आयरियाणं ।।3।।
नमो उवज्झायाणं ।।4।।
नमो लोए सव्वसाहूणं ।।5।।
एसो पंच नमुक्कारो ।।6।।
सव्व पावप्पणासणो ।।7।।
मंगलाणं च सव्वेसिं ।।8।।
पढमं हवइ मंगलं ।।9।।

इसकी व्याख्या श्री वज्रस्वामीजी आदि श्रुतधरों ने जिस प्रकार छेदग्रंथादि आगमों में की है, वह भक्ति बहुमान के अतिशय से और भव्य प्राणियों को विशेष उपकारक है, यह जानकर यहाँ बताई जाती है–

प्रश्न– है भगवान! इस अचिंत्य चिंतामणि समान श्री पंचमंगल महाश्रुतस्कंध सूत्र का क्या अर्थ बताया गया है ?

उत्तर–हे गौतम! इस अचिंत्य चिंतामणि समान श्री पंचमंगल महाश्रुतस्कंध का अर्थ इस प्रकार बताया गया है–कि पंचमंगल महाश्रुतस्कंध जैसे तिल में तैल, कमलपुष्प में मकरंद और तीनों लोकों में पंचास्तिकाय हैं, वैसे सभी आगमों के अंतर्गत है। और यह यथार्थक्रियानुवाद, सद्भूत गुणकीर्तनस्वरूप और यथेच्छफलप्रसाधक परमस्तुतिवादरूप है।

सारे जगत् में जो उत्तम है उसकी परमस्तुति करनी चाहिए। सारे जगत् में अब तक कोई उत्तम हो गये, जो आज हैं और जो भविष्य में होंगे वे सिर्फ अरिहंतादि पाँच ही हैं। उनके सिवाय अन्य कुछ भी नहीं है। वे पाँच उत्तम क्रमशः अरिहंत सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु हैं। उन पाँचों का गर्भार्थ–सद्भाव, अर्थात् परम रहस्यभूत अर्थ इस प्रकार है–

अरिहंत

आठ महाप्रातिहार्यों की पूजा द्वारा (देव, असुर और मनुष्यसहित) समस्त जगत् में प्रसिद्ध, अनन्यसदृश, अचिंत्य, अप्रमेय केवलाधिष्ठित और सर्वोत्तम तत्त्वरूप अरिहंत हैं। कहा गया है कि **'जो वंदन–नमस्कार के योग्य, पूजा–सम्मान के योग्य और सिद्धिगमन के योग्य हैं, वे अरिहंत हैं।'**

वचनों के द्वारा स्तुति आदि करना वंदन है और सिर आदि को झुकाना नमन है। वंदन–नमन के समय बहुमानादियुक्त प्रणिधान (ध्यान) सम्यक् ध्यान है। पुष्पमाला, सुगंधित धूप और प्रदीप आदि से जो की जाती है, वह पूजा है। वस्त्राभूषण आदि के द्वारा जो किया जाता है, वह सत्कार–सम्मान है। तथाभव्यत्वपरिपाक के द्वारा परम अरिहंत उपाधि की उपभोगपूर्वक सिद्धि पाने वाले होने से उन्हें अर्हन्त कहा जाता है। उन्हें मेरा नमस्कार है।

नमस्कार दो प्रकार का होता है–द्रव्य संकोचरूप, भावसंकोचरूप। हाथ, सिर आदि का संकोच द्रव्य–नमस्कार है। नमस्कार के साथ चतुर्थी विभक्ति (संप्रदान कारक) के स्थान पर षष्ठी विभक्ति (संबन्ध कारक) का जो प्रयोग हुआ है, वह प्राकृत भाषा के कारण है। भूतकाल

में हो गए केवलज्ञानी, भविष्यकाल में होने वाले श्री पद्मनाभ आदि, वर्तमान काल में हुए ऋषभदेव आदि और विद्यमान श्री सीमंधर स्वामी आदि इन सभी कालों के अरिहंतों को ग्रहण करने के लिए बहुवचन का प्रयोग किया गया है ।

अथवा–अर्हंतों को–यानी स्तवनादि के लिए योग्य, सभी में प्रधान रूप से स्तुति करने योग्य, **'देवासुरमणुएसुं अरिहा पुआरुहुत्तमा जम्हा'** –देव, असुर और मनुष्यों के लिए पूजनीय/पूजा के योग्य हैं, इसलिए अर्हंत हैं ।

सर्वगुणसंपन्न होने से सर्वोत्तम अथवा गुणप्रकर्ष को पाए हुए होने स्तुतियोग्य, अथवा भयंकर संसाररूपी जंगल (भवाटवी) में भटकने से भयभीत हुए प्राणियों को अनुपम आनंदरूप परमपद का पथ दिखानेवाले होने से सार्थवाह आदि स्वरूप वाले अरिहंत परम उपकारी हैं ।

श्री नमस्कार निर्युक्ति में कहा गया है कि–

अडवीए देसिअत्तं, तहेव निज्जामगा समुद्दंमि ।
छक्कायरक्खणट्ठा, महगोवा तेण वुच्चंति ।।

अर्थात्– संसाररूपी जंगल में सार्थवाह, भवसागर में नाविक और छहकाय (पृथ्वी, अप, तेज, वायु, वनस्पति, त्रस काय) जीवों के रक्षक होने से वे महागोप कहलाते हैं ।

भव जंगल में सार्थवाह–बाधाओं से भरे हुए जंगल में मार्गदर्शक के अनुसार चलने से इच्छित नगर तक पहुँचा जा सकता है, वैसे ही संसार रूपी जंगल में जीव, जिनेश्वरों द्वारा दिए गए उपदेश के अनुसार चलने से निवृत्तिपुर (मोक्ष) में पहुँचते हैं । इससे संसाररूपी जंगल में जिनेश्वर मार्गदर्शक कहलाते हैं ।

निर्विघ्न रूप से जंगल पार होने की इच्छा रखनेवाला व्यक्ति जैसे मार्गदर्शक का परम उपकार मान कर भक्तिभाव से नमस्कार करता है, वैसे ही मुमुक्षु को भी राग, मद, मोह से रहित श्री जिनेश्वरदेव भावपूर्वक नमस्कार करने योग्य हैं । मिथ्यात्व और अज्ञान से मोहित मार्ग

वाले संसाररूपी जंगल में जो मार्गदर्शक का काम करते हैं, उन अरिहंतों को मैं नमस्कार करता हूँ ।

सम्यग्दर्शन से देखकर, सम्यग्ज्ञान से अच्छी तरह पहचान कर और चरणकरण रूप सम्यक् चारित्र का उत्तम आचरण कर श्री जिनेश्वर देव सिद्धिस्थान, निर्वाण–सुख और शाश्वत, अव्याबाध(बाधारहित) और अजर–अमर धाम में पहुँचे हुए होते हैं ।

भवसागर में नाविक–जैसे नाविक सम्यक् रीति से समुद्र के पार जाता है, वैसे ही श्री जिनेन्द्र भवसागर का पार पाते हैं । इसलिए वे पूजनीय हैं, पूज्य हैं । मिथ्यात्वरूपी कालिकावात–प्रतिकूल वायु के विरह में और सम्यक्त्वरूपी गर्जभवात–अनुकूल वायु की विद्यमानता में श्री जिनवरेन्द्र एक समय में सिद्धि–स्थानरूपी नगर में पहुँचे हैं । अमूढ़ज्ञान और मतिरूपी कर्मधार, त्रिविध रूप में तीन दंड से विराम पाए हुए । श्रेष्ठ निर्यामक होने वाले श्री जिनवरेन्द्रों को विनय से नम्र मैं भक्ति के साथ वंदन करता हूँ ।

छहकाय जीवों के गोपाल

जैसे ग्वाला श्वापदादि दुष्ट जीवों से गायों की रक्षा करता है और प्रचूर मात्रा में घास और पानी से युक्त वनों में उन्हें पहुँचाता है, वैसे ही श्री जिनवरेन्द्र छहजीवनिकाय(पृथ्वी, अप्, तेज, वायु, वनस्पति, त्रसकाय)रूपी गायों की जरा-मरण के भय से रक्षा करते हैं और उन्हें निर्वाणसुख दिलाते हैं, इसलिए वे महागोप–परमगोपाल कहलाते हैं ।

इस तरह भव्यगोप–लोक के परम उपकारी होने से और सभी लोकों में उत्तम होने से जिनेवरेन्द्र सबके लिए नमस्कार करने योग्य हैं । पंचपरमेष्ठियों में पहला नमस्कार अरिहंतो को इसलिए किया जाता है कि इन अरिहंतों के उपदेश से ही सिद्ध आदि का स्वरूप जाना जा सकता है ।

'अरिहंत' शब्द के पाठभेद

अरिहंत शब्द के तीन पाठभेद मिलते हैं । वे हैं–अरहंत,

अरिहंत, अरुहंत। इनमें से **'अरहन्त'** यानी सभी लोकों में उत्तम होने से प्रथमपूजा के योग्य, **'अरिहंत'** यानी अत्यंत दुर्जेय ऐसे आठ प्रकार के कर्मरुपी शत्रुओं को मार डालने वाले, निर्दयता से उनका दलन करने वाले, निचोड़ने वाले, शांत कर देनेवाले और हरा देनेवाले और **'अरुहन्त'** यानी सभी कर्मों का क्षय होने से भव में उत्पन्न करने वाला अंकुर जिनका जल गया है, इससे जो भव में फिर से उत्पन्न नहीं होनेवाले हैं, जन्म नहीं लेने वाले हैं। इस प्रकार अरिहंत पद की अनेक प्रकार से व्याख्या की जा सकती है।

'श्री भगवती' आदि सूत्रों में अरिहंत पद का आख्यान, प्रख्यान, प्ररूपण, प्रज्ञापन, दर्शन, उपदर्शन,निदर्शन अनेक प्रकार से किया गया है। उसका सार यहाँ बता रहे हैं–

'अरिहंत' पद का विशेष आख्यान

1. 'अरहद्भ्य' : जिससे **'रह'** यानी एकान्त स्थान और अंतर यानी गिरि गुफा आदि का मध्यभाग छिपा हुआ नहीं है। सर्ववेदी होने से समस्त वस्तु–समूह, उसका पर-अपर भाग जिसको प्रकट है, वे अरिहंत है।

2. 'अरहंत' : इस शब्द की निर्युक्ति–पदभंजन–से निम्नलिखित अनेक प्रकार के अर्थ निकलते हैं–

(अ) 'अत्यर्थं राजन्ते' – समवसरण आदि बाह्यलक्ष्मी और सज्ज्ञान आदि आंतरलक्ष्मी से जो अत्यंत सुशोभित होते हैं।

(इ) 'रान्ति सद्दर्शनादि' – जो सम्यग्दर्शन आदि देते हैं।

(ह) 'घ्नन्ति मोहादीन्' – जो मोह आदि का हनन करते हैं।

(ह) 'गच्छन्ति भव्योपकृत्यै ग्रामानुग्रामं' – भव्य जीवों के उपकार के लिए जो ग्राम–ग्राम में विचरण करते हैं।

(त) 'तन्वन्ति धर्म्मदेशनां' – भव्य जीवों के बोध के लिए जो निरंतर धर्मोपदेश देते हैं।

(ता) 'तायन्ते तारयन्ति वा सर्वजीवान्'– जो मोहादि शत्रुओं

से सभी जीवों की रक्षा करते हैं अथवा जो सभी जीवों को भवसमुद्र से तारते हैं ।

3. 'अरहयद्भ्यः!' क्वचिदपि आसक्तिमगच्छद्भ्यः । 'रह् गतौ' इति वचनात्–आत्यंतिक रागादि के हेतुभूत सुंदर–असुंदर विषयों का संपर्क होने पर भी किसी भी स्थल के प्रति आसक्ति धारण न करने वाले–अर्थात् क्षीणराग और क्षीणमोह ।

4. 'अरहयद्भ्यः' 'आत्मस्वभावमत्यजद्भ्यः','रह् त्यागे' इति वचनात् ।–सिद्धि गति के संबंध में ज्ञानादि आत्मस्वभाव को न छोड़ने वाले, अनंत ज्ञान, दर्शन आदि गुणों को धारण करने वाले ।

5. 'अरहद्भ्यः' भवमध्येऽतिष्टद्भ्यः 'रह् स्थितौ' इति वचनात्–सर्व कर्मों का क्षय होने के बाद तुरन्त लोकाग्र–मोक्ष में जाने वाले होने से एवं संसार में नहीं रहनेवाले ।

6. 'अरथांतेभ्यः' ! रथ शब्द सकल परिग्रह/संग्रह का उपलक्षणभूत है और अंत यानी विनाश यहां अंत शब्द जरा/बुढ़ापा का उपलक्षणभूत है । जो सभी प्रकार के परिग्रह के त्यागी हैं तथा जरा/बुढ़ापा और मृत्यु को जीतने वाले हैं ।

7. 'अरभमानेभ्यः ।' – रभस् यानी राभसिक वृत्ति से निवृत्त हुआ, अतुच्छ–स्वच्छता आदि परम विशुद्ध भाव को धारण किए हुए ।

अब तक **'अरहंत'** पद के अर्थ बताए । अब **'अरिहंत'** और **'अरुहंत'** पद के विभिन्न अर्थ देखेंगे ।

8. 'अरिहंतृभ्यः ।' – इंद्रिय, विषय, कषाय, परिषह, वेदना, उपसर्ग, राग, द्वेष, कर्म आदि भावशत्रुओं का नाश करनेवाले ।

9. 'अरिणा–धर्मचक्रेण भांतः।' अरि यानी धर्मचक्र शब्द से उपलक्षित/सूचित अन्य सभी शस्त्रों का त्याग करने वाला ।

10. 'अरुहंताणं' – बीज के पूरी तरह से जल जाने के बाद फिर से अंकुर पैदा नहीं होता, वैसे ही कर्मबीज के जल जाने से जिसका भव रूपी अंकुर नहीं उगता है ।

11. 'अरुपलक्षित–पीडादि–तत्कारणकर्म्मानादिभूतं च घ्नन्ति ।' – अरु शब्द से उपलक्षित/सूचित पीड़ाओं और उनके लिए कारणभूत होनेवाली अनादि कर्मसंतति का हनन करनेवाले ।

12. 'अरुंधद्भ्यः' – संसार में अब जिसे कोई रोकने वाला नहीं है–अर्थात् भव/संसार का त्याग करने वाला ।

सिद्धपद का विशेष आख्यान

1. 'निरुपमसुखाणि सिद्धाणि एसिं ति सिद्धाः।'

जिनको निरुपम सुख प्राप्त हो चुका है, अर्थात् निष्प्रकंप शुक्लध्यानादि के अचिन्त्य सामर्थ्य से स्वजीव वीर्यरूप योगनिरोध नामक महाप्रयत्न से जिन्हें परमानंदस्वरूप निरुपम सुख प्राप्त हुए हैं, वे सिद्ध हैं ।

2. 'अट्ठपयारकम्मक्खएण सिद्धिसिद्धा एसिं ति सिद्धाः।' आठ प्रकारों के कर्मों का क्षय होने से जिन्हें सिद्धि प्राप्त हुई है, वे सिद्ध हैं ।

3. 'सियं बद्धं, कम्मं झायं–भस्मीभयूमेएसिमिति सिद्धाः।'– दीर्घकाल से उपार्जित किए हुए आठ प्रकारों के कर्म जिनके भस्तीभूत हो गए हैं, वे सिद्ध ।

4. 'सिद्धे निट्ठिए सयलपओयणजाए एएसिमिति सिद्धाः।' – सिद्ध अर्थात् परिपूर्ण हुए हैं सकल प्रयोजनों के समूह जिनके, वे सिद्ध । ये सिद्ध अनेक प्रकार के हैं–तीर्थसिद्ध, अतीर्थसिद्ध, जिनसिद्ध, अजिनसिद्ध, गृहिलिंगसिद्ध, अन्यलिंगसिद्ध, मुनिलिंगसिद्ध, स्त्रीसिद्ध, पुरुषसिद्ध, नपुंसकसिद्ध, प्रत्येकबुद्धसिद्ध, स्वयंबुद्धसिद्ध, बुद्धबोधितसिद्ध, अनेकसिद्ध, एकसिद्ध इत्यादि ।

5. (क) 'षिध् गत्यां ।' फिर वापस न आना पड़े इस रीति से मोक्षपुरी में गए हुए ।

(ख) 'षिधुसंराद्धौ ।' – सिद्ध हुए ।

(ग–घ) 'षिध् शास्त्रमांगल्ययोः' – जो स्वयं अनुशासक बने अथवा जिन्होंने स्वयं मंगलरूपता को पाया, वे सिद्ध ।

(ङ) 'सिद्धा–प्रख्यात' – गुणों के बहुत बड़े समूह को पाए हुए होने से भव्य जीवों में अत्यंत प्रसिद्ध ।

(च) 'सिद्धाःनित्या':– अपर्यवसान स्थिति वाले होने से नित्य । उपर्युक्त छह अर्थों को बताने वाली एक गाथा है–

ध्यातं सितं येन पुराणकर्म्म, यो वा गतो निर्वृतिसौधमूर्ध्नि ।
ख्यातोनुशास्ता परिनिष्ठितार्थो, यः सोऽस्तु सिद्धः कृतमंगलो मे ।।

सिद्ध अविनाशी ज्ञान, सुख, वीर्य आदि गुणों से युक्त होने से भव्य आत्माओं में स्वविषयक अत्यधिक प्रमोदभाव उत्पन्न करनेवाले हैं । इस प्रकार भव्य जीवों पर परम उपकार करनेवाले होने से वे नमस्करणीय हैं ।

आचार्यपद का विशेष आख्यान

1. ज्ञान आदि छत्तीस आचारों को दिन–रात प्रतिक्षण आचरण में लाने वाले उपदेश देनेवाले होने से भावाचार्य ।

2. दूसरों की तथा अपनी आत्मा के हित का आचरण करनेवाले आचार्य ।

3. सभी सत्त्व या शिष्यगणों के हित का आचरण करने के कारण आचार्य ।

4. प्राणपरित्याग में भी जो पृथ्वीकायादि के समारंभ का आचरण नहीं करते हैं, दूसरों से नहीं कराते हैं और ऐसा आचरण करनेवालों को मन से भी अनुमोदना नहीं करते हैं, इसलिए आचार्य ।

5. अपने ऊपर अत्यंत क्रोध करनेवालों के प्रति भी जो मन से भी पाप का आचरण नहीं करते हैं–वे आचार्य ।

6. **'आ मर्यादया चयन्ते–सेव्यन्ते–इत्याचार्यः।'** श्री जिनशासन संबंधी तत्त्वों के उपदेशक होने से, उसके लिए जिज्ञासु आत्माओं के प्रति जो विनय और मर्यादापूर्वक व्यवहार करते हैं–वे आचार्य ।

7. **'आचारो ज्ञानाचारादि तत्र साधवः आचार्याः।'** ज्ञानाचारादि पाँच प्रकार के भाव आचार है उनका स्वयं पालन करनेवाले और अन्य जिज्ञासु आत्माओं से उनका पालन कराने में कुशल, वे आचार्य ।

8. **'आ मर्यादया मासकल्पादिरूपया चारो विहारः तत्र साधवः।'** मासकल्पादि मर्यादा के अनुसार जो विहार में निष्णात होते हैं–वे आचार्य ।

9. **'आ ईषत् अपरिपूर्णा इत्यर्थः चाराः–हेरिकाः चार कल्पा इत्यर्थः, तेषु साधवः।'** – युक्तायुक्त विभागों का निरूपण करने में असमर्थ एवं अनिपुण शिष्य हैं, उन्हें शास्त्रोक्त उपदेश देने वाले होने से साधु–सुंदर, वे आचार्य ।

10. उपर्युक्त समस्त वर्णन भावाचार्य का है । इससे अतिरिक्त नामाचार्य, स्थापनाचार्य, द्रव्याचार्य आदि अनेक प्रकार के आचार्य होते हैं, उनमें से जो भावाचार्या के कारणरूप आचार्य हैं, वे उपादेय / उपयुक्त हैं, बाकी अनुपयुक्त हैं । भावाचार्य भव्य जीवों को ज्ञानादि आचारों का उपदेश देनेवाले होने से उपकारी हैं, नमस्करणीय हैं, पूजनीय हैं ।

उपाध्यायपद का विशेष आख्यान

1. आस्त्रव के द्वारों को अच्छी तरह से रोककर तथा मन–वचन–काया के योगों को अच्छी तरह से वशकर जो विधिपूर्वक स्वर, व्यंजन, मात्रा, बिंदु और अक्षरों द्वारा विशुद्ध द्वादशांगश्रुत का अध्ययन और अध्यापन करते हैं, और उसके द्वारा अपने और दूसरों के मोक्ष के उपायों का चिंतन करते हैं, वे उपाध्याय ।

2. चिरपरिचित द्वादशांग श्रुतज्ञान का वे अनेक दिशाओं से चिंतन करते हैं, बार–बार स्मरण करते हैं और एकाग्रचित्त से ध्यान करते हैं–वे उपाध्याय ।

इस प्रकार अनेक रूपों में उपाध्यायपद का आख्यान किया जाता है । सूत्रप्रदान के द्वारा भव्य जीवों के लिए उपकारक होने से वे नमस्करणीय हैं ।

साधुपद का विशेष आख्यान

अत्यंत कष्टदायक, उग्रतर और घोर तपस्या आदि अनुष्ठान कर, अनेक व्रत नियम, उपवास और विविध प्रकार के अभिग्रहों से युक्त संयम का पालन कर तथा सम्यक् रूप में परिषह, उपसर्ग आदि कष्टों को सहनकर जो सभी दु:खों का अंत करने वाले मोक्ष की साधना करते हैं,–वे साधु कहलाते हैं ।

अन्य प्रकार से भी साधुपद का आख्यान होता है । साधु संयम के पालने से, संयम में सहायक होने से संयम चाहनेवाली आत्माओं के लिए नमस्करणीय होते हैं ।

नमस्कार की चूलिका का आख्यान

इन पाँचों को (अरिहंतों/सिद्धों/आचार्यों/उपाध्यायों/साधुओं को)किया गया नमस्कार क्या करता है ?

विशेषकर सभी पाप–ज्ञानावरणीय आदि कर्मो को कूट–कूट कर पूरी तरह नष्ट करता है । चूलिका का यह पहला उद्देश्य हैं । फिर यह नमस्कार कैसा है ? मार्ग यानी निर्वाणसुख को साधने के लिए समर्थ, सम्यग्दर्शनादि की आराधनारूप, अहिंसालक्षण वाले धर्म को लाने वाला मंगल, भवसंसार से बचाने वाला–मुक्त करने वाला मंगल अथवा बद्ध, स्पृष्ट निधत्त और निकाचित आदि आठ प्रकारों की कर्मराशि को टालने, शांत करनेवाला मंगल इत्यादि इन सबमें आदि मंगल, क्योंकि अरिहंत आदि की स्तुति परम मंगल रूप है और एकान्तिक तथा आत्यंतिक फलदायी होने से भावमंगल है ।

सभी पापों का विनाश करनेवाला और मंगलरूप कहने से प्रयोजनादि भी बताए गए । श्री पंचपरमेष्ठी–नमस्कार का प्रयोजन–अनंतर कार्य कर्मक्षय और मंगल का आगमन है तथा फल परंपरकार्य इहलोक और परलोक इन दोनों के बारे में है–इहलोक में अर्थ, काम, स्वास्थ्य और संतोष की निष्पत्ति और परलोक में सिद्धि,स्वर्ग, अच्छे कुल में उत्पत्ति और बोधि/शांति की प्राप्ति ।

3

नमस्कार महामंत्र–प्रश्नोत्तरी

प्रश्न 1. 'श्री पंच परमेष्ठी–नमस्कार' इस पद का क्या अर्थ है?

उत्तर–परमपद पर विराजमान अरिहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु इन पाँच परमेष्ठियों को नमन करने की क्रिया का नाम पंचपरमेष्ठी–नमस्कार है।

प्रश्न 2. इन पाँचो को परमेष्ठी क्यों कहा जाता है?

उत्तर–परम अर्थात् उत्कृष्ट स्थान पर स्थित होने से श्री अरिहंत आदि पाँचों को परमेष्ठी कहा जाता है।

प्रश्न 3. श्री पंचपरमेष्ठी नमस्कारमंत्र को 'नवकारमंत्र' क्यों कहा जाता है?

उत्तर–'नवसु पदेषु काराः क्रियाः यस्मिन् स नवकारः।' अथवा **'नवकारा क्रिया यस्मिन् स नवकारः।'** अर्थात्, जिसके नौ पदों में (पूर्वानुपूर्वी, पश्चानुपूर्वी, अनानुपूर्वी द्वारा गिनने से) क्रिया में भेद है अथवा जिसके गिनने की नौ क्रियाएँ हैं, उसे नवकार कहते हैं। इसलिए **'श्री पंचपरमेष्ठी–नमस्कार महामंत्र'** का दूसरा नाम **'श्री नवकार मंत्र'** भी है।

प्रश्न 4. श्री नवकारमंत्र में 'नमो' इस पद का प्रथम अक्षर 'न' समझे या 'ण'?

उत्तर–प्राकृत भाषा में सर्वत्र शब्द के प्रारंभ में **'न' कार** के स्थान पर **'ण' कार** का आदेश विकल्प से होता है। इसलिए **'नमो'** और **'णमो'** ये दोनों पद शुद्ध हैं, फिर भी **'ण'** कार छंदशास्त्र में निषिद्ध दग्धाक्षर है, इसलिए **'नमो'** यह उच्चारण को शुद्ध माना गया है। कितने ही लोग **'ण'** कार को ज्ञान का वाचक मानते हैं और दग्धाक्षर होते हुए भी उसे मंगल स्वरूप मानते हैं। ऐसे लोग **'णमो'** पद का उच्चारण करते हैं, लेकिन यह बहुत प्रचलित नहीं है।

प्रश्न 5. 'नमः' इस पद का संक्षेप में क्या अर्थ है?

उत्तर–'नमः' यह नैपातिक पद द्रव्य और भाव का संकोच या संक्षेप के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। हाथ, पाँव और मस्तक आदि शरीर के अवयवों के ग्रहण, कंपन और चलन आदि क्रियाओं को रोकना, नियमित करना यह द्रव्यसंकोच है और विशुद्ध मन का प्रयोग (मन की शुद्धता) यह भावसंकोच है। अर्थात् **'नमः'** इस पद से द्रव्य और भाव इन दोनों प्रकारों के नमस्कार का द्योतक होता है।

प्रश्न 6. 'नमो अरिहंताणं' इस पाठ के स्थान पर अरहंताणं और अरुहंताणं ये पाठ भी मिलते हैं। इनमें से कौन–सा पाठ ठीक है?

उत्तर–'नमो अरिहंताणं' यही पाठ ठीक है। फिर भी श्री अरिहंत परमात्मा के विभिन्न गुणों की अपेक्षा अर्थ की दृष्टि से तीनों पाठ एक ही अर्थ बताते हैं। लेकिन पाठभेद न हो इसलिए **'नमो अरिहंताण'** पद का उच्चारण सिद्ध माना गया है।

प्रश्न 7. 'अरिहंत', 'अरहंत' और 'अरुहंत' इन तीन पदों के अर्थ में क्या अंतर है?

उत्तर–सबसे पहले **'अरिहंत'** पद का अर्थ संक्षेप में देखें। **'अरि'** यानी शत्रु, उसे **'हंत'** यानी हनन करनेवाला यह अर्थ होता है। इस संबन्ध में शास्त्रों में कहा गया है कि–

अट्ठविहंपि य कम्मं, अरिभूअं होइ सव्वजीवाणं।
तं कम्ममरिं हंता, अरिहंता तेण वुच्चन्ति ॥

आठ प्रकार के कर्म ही सभी जीवों के लिए शत्रुभूत हैं। इन कर्मरूप शत्रुओं का नाश करने वाले होने से श्री **'अरिहंत'** कहलाते हैं।

अथवा

रागद्दोसकसाए, इंदियाणि अ पंच वि।
परिसह उवसग्गे, नामयंता नमोऽरिहा ॥

राग, द्वेष, कषाय, पाँच इंद्रिय, परिषह और उपसर्गों को झुकाने वाले श्री अरिहंत नमस्कार करने योग्य हैं।

अथवा

इंदियविसयकसाये, परिसहे वेयणा उवसग्गे ।
एए अरिणो हंता, अरिहंता तेण वुच्चन्ति ।।

इंद्रिय, विषय, कषाय, परिषह, वेदना और उपसर्ग ये शत्रु हैं । इन शत्रुओं का हनन करनेवाले होने से **'अरिहंत'** कहलाते हैं ।

इन तीनों गाथाओं का समुच्चय रूप में अर्थ यह है कि–इस संसाररूपी गहन वन में जीवों को अनेक प्रकार के दुःख देनेवाले राग, द्वेष, मोह आदि दोष हैं । इसलिए इन दोषों को उत्पन्न करने वाले इंद्रियों के विषय, क्रोधादि कषाय, बाईस प्रकार के परिषह, अनेक प्रकार की शारीरिक और मानसिक वेदनाएँ, देव, मनुष्य और तिर्यंच (पशु–पक्षी) आदि के उपसर्ग ये सब जीव के पारमार्थिक शत्रु हैं । इनके कारण जीव अनंत भवों में भ्रमण करानेवाले ज्ञानावरणीय आदि आठ प्रकार के कर्मों का बंध करता है । जैसे बादलों से सूर्यमंडल आच्छादित होता है, वैसे जीव के ज्ञानादि गुण ढक जाते हैं । यह आच्छादन ही जीव के लिए शत्रुभूत है । उसका सर्वथा उन्मूलन करने वाले होने से **'अरिहंत'** कहलाते है ।

अब **'अरहन्त'** पद के दूसरे व्युत्पत्तिसिद्ध अर्थ पर विचार करेंगे । वह यह है–

'अशोकादिअष्टमहाप्रातिहार्यरूपपूजामर्हन्तीति अर्हन्तः ।'

अर्थात् देवताओं द्वारा निर्मित अशोक वृक्षादि आठ महाप्रतिहार्यों के रूप में जो पूजा के योग्य हैं, वे अर्हन्त हैं ।

इस संबन्ध में शास्त्रों में कहा है कि–

अरिहंति वंदणनमंसणाइं, अरिहंति पूयसक्कारं ।
सिद्धिगमणं च अरिहा, अरहंता तेण वुच्चंति ।।

वंदन–नमस्कारादि के लिए जो योग्य हैं, वे अरहंत (अर्हत्) कहलाते हैं ।

श्री **'चतुःशरणप्रकीर्णक'** में कहा है–

थूइवंदणमरहंता अमरिंद-नरिंद-पूयमरहंता ।
सासयसुहमरहंता, अरहंता हुंतु मे सरणं ।।

जो स्तुति और वंदन के योग्य हैं, अमरेन्द्रों और नरेन्द्रों के लिए पूजनीय है और शाश्वत सुख के योग्य हैं, वे अरिहंत भगवंत मुझे शरण देनेवाले हैं ।

'अरहंत' शब्द के प्राकृत में **'अरोहन्त'** और **'अराहन्त'** रूप भी बन सकते हैं । उसका भाव यह है कि **'रह'** यानी एकान्त और **'अन्त'** यानी गिरि–गुफा आदि का मध्यभाग, ये दोनों जिसकी दृष्टि से दूर नहीं हैं, अर्थात् जो अति गुप्त वस्तुसमूह को भी जान सकते हैं, वे **'अरहोन्त'** कहलाते हैं ।

अथवा–**'रह'** यानी रथ (बाह्य परिग्रह) और **'अत्र'** यानी (जरा, मरण) विनाश के कारण जिनके लिए नहीं हैं, वे **'अरहान्त'** कहलाते हैं ।

'अरहंताणं' इस प्राकृत पद का संस्कृत में **'अरहयद्भ्यः'** रूप बनता है । उसका अर्थ दो प्रकार से होता है । एक–**'अरहयद्भ्यः'** यानी **'अत्यजद्भ्यः'** यानी अर्थात् प्रकृष्ट रागादि के कारणभूत सुंदर विषयों का संपर्क होने पर भी जो अपना वीतराग स्वभाव नहीं छोड़ते हैं, वे अरहंत हैं ।

'अरहयद्भ्यः' यानी **'अगच्छद्भ्य'** गत्यर्थक धातुएँ प्राप्त्यर्थक भी होती हैं, अतः वीतरागतादि का स्वभाव छोड़ कर रागयुक्तता को कभी न पाने वाले होने से भी अरहंत कहलाते हैं ।

इस प्रकार **'अरहंत'** शब्द के निर्युक्तिसिद्ध अन्य भी अनेक अर्थ होते हैं । लेकिन विस्तारभय से उन सबको यहाँ नहीं दिया जा सकता । पंडित श्री **गुणरत्नमुनिजी** ने एक स्थान पर श्री **'अरहंत'** पद के 110 अर्थ किए हैं ।

कलिकालसर्वज्ञ आचार्य भगवंत श्रीमद् **हेमचंद्रसूरीश्वरजी** महाराज ने पृषोदरादि की तरह श्री **'अरहंत'** पद के तीन सामासिक अर्थ किए हैं । **'अरिहननात्', 'रजोहननात्'** तथा **'रहस्याऽभावात्'।** इस व्याख्या से **'अरिहंत'** पद सिद्ध होता है । उसका अर्थ **'अरिहंत'** पद का जो अर्थ किया, उससे मिलता–जुलता है । उनमें पहले **'अरिहननात्'**–इसमें **'अरिहंत'** का अर्थ है–संसार रूप गहन वन से संबद्ध मोहादि शत्रुओं

का हनन करने वाले होने से **'अरहंत'** है । दूसरा **'रजोहननात्'** –इसमें अरहंत का अर्थ है : जैसे बादल सूर्यमंडल को ढक देते हैं, वैसे चार घातीकर्मरूपी रज को दूर करने वाले होने से अरहंत है । तीसरा–**'रहस्याऽभावात्'** –इसमें अरहंत का अर्थ है–निरवशेष ज्ञानावरणीय आदि कर्मों की परतंत्रता दूर होने से और किसी से भी अप्रतिहत ऐसा अद्‌भूत केवलज्ञान और केवलदर्शन प्रकट होने से, लोकालोक के (सभी लोकों के) सभी भावों को प्रत्यक्ष जानने से अर्थात् जिनके ज्ञान से कोई भी वस्तु अज्ञात नहीं है, वे अरहंत हैं ।

अब तीसरे **'अरुहंत'** पद के अर्थ पर संक्षेप में विचार करेंगे । जिस प्रकार बीज के जल जाने से जैसे अंकुर उत्पन्न नहीं होता है, वैसे कर्मरूप बीज सर्वथा जलकर नष्ट हो जाने से जिनका भवरूप अंकुर उगता नहीं है, वे **'अरुहन्त'** कहलाते हैं ।

प्रश्न ८. उपर्युक्त लक्षणों से युक्त श्री अरिहंत भगवंतों को नमस्कार करने का मुख्य प्रयोजन क्या है?

उत्तर–संसाररूपी महा भयंकर गहन वन में भटक–भटक कर दु:खी और थके हुए जीवों को अरिहंत भगवंत परमपद का मार्ग दिखाते हैं । इसलिए वे सभी जीवों के परमोपकारी हैं, इसीलिए अरिहंत परमात्मा प्रथम पद में नमस्कार करने योग्य हैं । इस संबन्ध में **'श्री नमस्कारनिर्युक्ति'** में कहा गया है कि–

अडवीस देसियत्तं, तहेव निज्झामया समुद्दंमि ।
छक्कायरक्खणट्टा, महगोवा तेण वुच्चंति ।।

श्री अरिहंत परमात्मा भव अटवी में मार्गदर्शक होने से, भव समुद्र में निर्यायक होने से तथा षट्‌काय जीव रूपी गाय के पालक होने से महागोप कहलाते हैं । इस कारण वे नमस्कार के लिए परम पात्र हैं ।

प्रश्न ९. व्याकरण के नियम के अनुसार 'नमस्' शब्द के साथ संप्रदान कारक (चतुर्थी विभक्ति) आनी चाहिए, फिर यहाँ संबन्ध (षष्ठी विभक्ति) का प्रयोग क्यों किया गया है?

उत्तर–प्राकृत भाषा में चतुर्थी विभक्ति नहीं होती है, बल्कि चतुर्थी

विभक्ति के स्थान पर षष्ठी विभक्ति का ही प्रयोग किया जाता है । कहा भी है–

बहुवयणेण दुवयणं, छट्ठिविभत्तीए भण्णइ चउत्थी ।
जह हत्था तह पाया, नमोत्थु देवाहिदेवाणं ।।

अर्थ:– प्राकृत में द्विवचन के स्थान पर बहुवचन और चतुर्थी विभक्ति के स्थान पर षष्ठी विभक्ति का प्रयोग किया जाता है । जैसे, हस्तौ, पादौ, के स्थान पर **'हत्था, पाया'** का प्रयोग होता है । इस प्रकार चतुर्थी विभक्ति के अर्थ में **'नमोत्थु देवाहिदेवाणं'** इस प्रकार षष्ठी विभक्ति का प्रयोग होता है ।

प्रश्न 10. 'नमो अरिहंताणं' पद में षष्ठी विभक्ति के बहुवचन का प्रयोग किया है, उसका उद्देश्य/प्रयोजन क्या है ?

उत्तर–बहुवचन का प्रयोग करने में तीन मुख्य कारण नीचे दिए जाते हैं–

1.'अरिहंत' एक नहीं है, बल्कि अनंतकाल की अपेक्षा से अंनत हैं, यह बताने के लिए ।

2.विषयबहुत्व से नमस्कार करने वाले को फलातिशय (बहुत अधिक फल) की प्राप्ति होती है, यह बताने के लिए ।

3.गौरव प्रकट करने के लिए ।

उपर्युक्त कारणों से बहुवचन का प्रयोग किया है ।

ये ही तीन कारण बाद में आने वाले पदों में आने वाले बहुवचन के प्रयोग के लिए भी समझ लेने चाहिए और ऐसे ही अन्य संभवित कारणों की अपनी बुद्धि से कल्पना करनी चाहिए । जैसे–अद्वैतवाद का व्यवच्छेद आदि ।

प्रश्न 11. प्रथम पद का ध्यान किस रीति से करना चाहिए?

उत्तर–प्रथम पद पर विराजमान श्री अरिहंत परमात्माओं का ध्यान चंद्रमंडल के समान श्वेत वर्ण से करना चाहिए ।

प्रश्न 12. 'नमो सिद्धाणं' इस पद में सिद्धों को नमस्कार किया गया है । उन सिद्धों का स्वरूप क्या है?

उत्तर–श्री सिद्धपद के निर्युक्ति, व्युत्पत्ति तथा रूढ़ि के अनुसार निम्नलिखित अर्थ निकलते हैं–

1.**'सितं बद्धमष्टप्रकारकं कर्मध्मातं दग्धं यैस्ते सिद्धाः।'** अर्थात् जिन्होंने चिरकाल से बँधे हुए आठों प्रकारों के कर्मरूपी ईंधनों के समूह को शुक्लध्यान रूपी अग्नि से जला दिया है, वे सिद्ध कहलाते हैं ।

2.**षिधु गतौ ।'** इस धातु से **'सिद्ध'** शब्द बना है, उससे यह अर्थ निकलता है कि अपुनरावृत्ति द्वारा (फिर से लौट नहीं आना पड़े इस रीति से) जो मोक्षपुरी में गए हैं, वे सिद्ध कहलाते हैं ।

3.जो सर्वथा कृत्यकृत्य हो गए हैं, अर्थात् जिनका कोई भी कार्य अधूरा नहीं है, वे सिद्ध कहलाते हैं ।

4.जो जगत् के लोगों को उपदेश देनेवाले अनुशासक हैं, वे सिद्ध कहलाते हें ।

5.जिनके द्वारा भव्य जीवों को गुणसमूह की प्राप्ति होती है, वे सिद्ध कहलाते हैं ।

6.जो परम मंगल तत्त्व का अनुभव करने वाले होने से, उनका ध्यान करने वालों के लिए मंगलरूप बनते हैं, वे सिद्ध कहलाते हैं ।

7.जो समाप्त न होने वाली अनंत स्थिति को प्राप्त हो चुके हैं, वे सिद्ध कहलाते हैं । उपर्युक्त सभी अर्थों को एक साथ बतानेवाला एक श्लोक शास्त्रों में मिलता है–

ध्मातं सितं येन पुराणकर्म, यो वा गतो निर्वृतिसौधमूर्ध्नि ।
ख्यातोऽनुशास्ता परिनिष्ठितार्थो, यः सोऽस्तु सिद्धं कृतमंगलो मे ।।

जिन्होंने पूर्वबद्ध प्राचीन कर्मों को जला दिया है, जो मुक्तिरूपी महल के अग्रभाग पर पहुँच चुके हैं, जो जगत् के जीवों के लिए (मुक्तिमार्ग का) उपदेश–अनुशासन–करने वाले के रूप में प्रसिद्ध हो चुके हैं और जिनके सभी प्रयोजन सिद्ध हो गए हैं, ऐसे मंगलरूप बने सिद्ध परमात्मा मुझे मंगलरूप बनें ।

प्रश्न 13. श्री सिद्ध परमात्मा को नमस्कार करने का क्या प्रयोजन है?

उत्तर–जैसे श्री अरिहंत परमात्मा संसाररूपी जंगल में मार्गदर्शक होने से उपकारी हैं, वैसे ही श्री सिद्ध परमात्मा अविनाशी ऐसे अंनतचतुष्टय (अनंत ज्ञान, अनंत दर्शन, अनंत चारित्र, अनंत वीर्य) को धारण करने वाले होने से भव्य आत्माओं में अत्यंत आनंद उत्पन्न करनेवाले हैं। इस कारण वे भव्य आत्माओं के लिए अत्यंत उपकारक हैं, इसलिए वे भी नमस्कार करने योग्य हैं।

प्रश्न 14. श्री सिद्ध भगवंतों का ध्यान किस प्रकार करना चाहिए?

उत्तर–सिद्ध भगवंतों का ध्यान उगते हुए सूरज के वर्ण समान रक्त (लाल) वर्ण से करना चाहिए।

प्रश्न 15. 'नमो आयरियाणं' इस तीसरे पद से श्री आचार्यों को नमस्कार किया गया है। उनका स्वरूप कैसा है?

उत्तर–**'या'** यानी मर्यादा से, **'चर्यते'** यानी सेवा करना। अर्थात् श्री जिनशासन के उपदेशक होने से, उस उपदेश की आकांक्षा रखने वाले जीवों के द्वारा जिनकी विनयपूर्वक सेवा की जाती है, वे आचार्य हैं। इस संबन्ध में कहा गया है कि–

सुत्तत्थविऊ लक्खण–जुत्तो गच्छस्स मेढिभूओ अ।
गणतत्तिविप्पमुक्को, अत्थं वाएइ आयरिओ ।।

सूत्र और अर्थ दोनों के ज्ञाता, लक्षणयुक्त, गच्छ के नायक होने से गच्छ ते लिए स्तंभ समान और गच्छ की चिंता से सर्वथा मुक्त ऐसे आचार्य **'अर्थ'** का उपदेश देते हैं। अथवा–**'आ'** यानी मर्यादा से और **'चार'** यानी विहार (आचार), उसका पालन करने वाले साधु आचार्य होते हैं। अथवा–पाँच प्रकार के ज्ञानाचारादि आचारों का पालन करने में साधु अर्थात् चतुर होते हैं, वे आचार्य हैं। दूसरो को वही आचार पालन करने का उपदेश देने वाले होने से और साधु आदि को वह आचार दिखाने वाले होने से **'आचार्य'** हैं। इस संबन्ध में **'आवश्यक'** सूत्रांतर्गत **'नमस्कार निर्युक्ति'** में कहा है कि–

पंचविहं आयारं, आयरमाणा तहा पभासंता ।
आयार दंसंता, आयारिया तेण वुच्चंति ।।

पाँच प्रकार के आचारों का स्वयं आचरण करने वाले, प्रयत्नपूर्वक दूसरों के सामने उस आचार का उपदेश देने वाले तथा साधुप्रमुख को पाँच प्रकार के आचारों को दिखाने वाले होने से **'आचार्य'** कहलाते हैं ।

'आ' यानी ईषत् (अधूरा), **'चार'** यानी कुशल न होने वाले विनेय (शिष्य) के प्रति साधु, यथार्थ–शास्त्रार्थ का उपदेश करने से उपकारक होते हैं, वे आचार्य हैं ।

उक्त लक्षणों से युक्त आचार्य निरंतर जागरुकता से धर्म का उपदेश देते हैं, वे विकथा–का त्याग किये हुए हैं, देश और काल के अनुसार भिन्न–भिन्न प्रकार के उपायों से शिष्यों को प्रवचन करने का अभ्यास कराते हैं ।

तीर्थंकर रूपी सूरज और सामान्य केवली रूपी चंद्रमा दोनों, जैनशासन रूपी गगनमंडल में से अस्त हो जाने के बाद, तीनों लोकों में होने वाले पदार्थों को प्रकाशित करने के लिए जो दीपक का काम करते हैं, उन आचार्य भगवंतों को नमस्कार करने का सौभाग्य धन्यपुरुषों को ही प्राप्त होता है । इन सूरिपुंगवों को किया गया नमस्कार शीघ्रातिशीघ्र भवभय का नाश करने वाला होता है ।

प्रश्न 16. श्री आचार्य भगवंतों का ध्यान किस प्रकार करना चाहिए?

उत्तर–आचार्य भगवंतों का ध्यान स्वर्ण के वर्ण समान पीले वर्ण से करना चाहिए ।

प्रश्न 17. 'नमो उवज्झायाणं' इस पद से श्री उपाध्याय भगवंतों को नमस्कार होता है । इन उपाध्याय भगवंतों का स्वरूप कैसा होता है?

उत्तर–'उप' यानी समीप/जिनके समीप–रहकर शिष्यजन अध्ययन करते हैं, उन्हें उपाध्याय कहते हैं । अथवा जो समीप आए हुए साधु आदि जनों को सिद्धान्तों का अध्ययन कराते हैं, वे उपाध्याय कहलाते हैं ।

जिनके सानिध्य से सूत्रों के अध्ययन द्वारा जिनप्रवचन का अधिक

ज्ञान और स्मरण होता है, वे उपाध्याय हैं। उस संबंध में श्री जिनागम में कहा है–

बारसंगो जिणक्खाओ, सज्झाओ कहिओ बुहेहिं ।
तं उवइसन्ति जम्हा, उवज्झाया तेण वुच्चंति ।।

श्री जिनेश्वर देवों द्वारा कथित द्वादशांगी के अध्ययन को पंडित पुरुष स्वाध्याय कहते हैं। उसका उपदेश करनेवाले होने से **'उपाध्याय'** कहलाते हैं। अथवा–**'उप = उपयोगेन, आ = समन्तात् ध्यायन्तीति उपाध्यायाः।'** जो उपयोगपूर्वक ध्यान करते हें, उनका नाम उपाध्याय है।

श्री आवश्यक निर्युक्ति में श्रुतकेवली भगवान् **श्री भद्रबाहुस्वामी जी** महाराज ने भी कहा है कि–

उत्ति उवओगकरणे, ज्झत्ति अ झाणस्स होइ निद्देसे ।
एएण होइ उज्झा, एसो अन्नोऽवि पज्जाओ ।।

'उवज्झाय' (उपाध्याय) का एक पर्याय **'उज्झा'** भी है। इसमें **'उ'** यानी **'उपयोग करना'** और **'झ'** यानी ध्यान। अर्थात् जो उपयोगपूर्वक ध्यान करते हें, वे **'उज्झा'** (उपाध्याय) कहलाते हैं।

अथवा–**'उप समीपे अधिवसनात् श्रुतुस्यायो लाभो भवति येभ्यस्ते उपाध्यायाः।'** जिनके पास रहने से श्रुत का आय अर्थात् लाभ होता है, उन्हें उपाध्याय कहते हैं।

अथवा–**'उपाधेरायो येभ्यस्ते उपाध्यायाः'**

जिनके द्वारा उपाधि (शुभ विशेषणों से युक्त पदवी) की प्राप्ति होती है, उन्हें उपाध्याय कहते हैं।

अथवा– **'उपहन्यते आधेर्मानस्या व्यथाया आयः प्राप्तिर्यैस्ते उपाध्यायाः' यद्वा 'उपहन्यते अधियः कुबुद्धेरायः प्राप्तिर्यैस्ते उपाध्यायाः।' यद्वा 'उपहन्यते अध्यायो दुर्ध्यानं यैस्ते उपाध्यायाः।'** अर्थात् जिनसे मानसिक पीड़ा, कुबुद्धि और दुर्ध्यान नष्ट होता है, वे उपाध्याय हैं।

प्रश्न18. उक्त लक्षणोंवाले श्री उपाध्याय भगवंतों को नमस्कार करने का क्या प्रयोजन है?

उत्तर–उक्त लक्षणोंवाले उपाध्याय भगवंत श्री जिनोक्त द्वादशांगी का अध्यापन करनेवाले होने से तथा सूत्र और अर्थ दोनों का विस्तार करने में रसिक होने से तथा गुरुपरम्परा से प्राप्त जिनवचनों का अध्ययन करने में तत्पर होने से भव्य आत्माओं पर महान् उपकार करने वाले होते हैं ।

शिष्यों को विनय गुण सिखाने वाले होने से भी वे भव्यजीवों के लिए नमस्करणीय हैं ।

प्रश्न 19. श्री उपाध्याय भगवंतों का ध्यान किस प्रकार करना चाहिए ?

उत्तर–उपाध्याय भगवंतों का ध्यान(स्मरण) मरकतमणि समान नीले वर्ण से करना चाहिए ।

प्रश्न 20 'नमो लोए सव्वसाहूणं' इस पद का अर्थ 'लोक में होनेवाले सभी साधुओं को नमस्कार है' ऐसा होता है । इन साधुओं का स्वरूप कैसा है ?

उत्तर–जो ज्ञानादि शक्तियों के द्वारा मोक्षमार्ग की साधना करते हैं, वे साधु हैं । अथवा–जो स्थावर–जंगम सभी प्राणियों के प्रति समान बुद्धि धारण करने वाले हैं, वे साधु है । इसके संबंध में **'श्री आवश्यक निर्युक्ति'** महाशास्त्र में प्रतिपादन किया गया है–

निव्वाणसाहए जोगे, जम्हा साहन्ति साहुणो ।
समा य सव्वभएसु, तम्हा ते भावसाहुणो ।।

अर्थ :– निर्वाणसाधक संयमक्रियाओं (योगों) द्वारा जो मोक्ष की साधना करते हैं और जो सभी प्राणियों के प्रति समभाव (वृत्ति) धारण करते हैं, वे भावसाधु कहलाते हैं ।

अथवा

विसयसुहनियत्ताणं, विसुद्धचारित्तनियमजुत्ताणं ।
तच्चगुणसाहगाणं, सदा य किच्चुज्जयाण नमो ।।

अर्थ :– साधु पाँचों इंद्रियों के सुख से निवृत्त होते हैं, विशुद्ध मूल उत्तर को धारण करने वाले हैं, तथ्य (सत्य) गुणों को साधनेवाले हैं और मुक्तिमार्ग में सहायता देने के कार्य में नित्य तत्पर हैं । ऐसे साधुपुरुषों को बारबार नमस्कार है ।

अथवा–

असहाय सहायत्तं, करंति मे संजमं करिन्तस्स ।
एएण कारणेणं, नमामिऽहं सव्वसाहूणं ।।

(धर्मकृत्य में) असहाय ऐसे मुझको संयमपालन में सहायता देने वाले होने से मैं सभी साधुओं को नमस्कार करता हूँ ।

प्रश्न 21. उक्त गुणविशिष्ट साधुओं को नमस्कार करने का क्या प्रयोजन हैं?

उत्तर–साधु पुरुष मोक्षमार्ग में सहायक होने से भव्य आत्माओं के लिए परम उपकारी हैं, इसलिए सभी साधुओं को निरंतर नमस्कार करना उचित है ।

जैसे भ्रमर वृक्ष के सुगंधित पुष्प पर बैठकर उसका थोड़ा सा पराग ग्रहण करता है और फिर दूसरे पुष्प की ओर चला जाता है, इस प्रकार वह अनेक पुष्पों पर भ्रमण कर प्रत्येक से थोड़ा–थोड़ा पराग ग्रहण कर अपनी आत्मा को संतुष्ट करता है, लेकिन किसी भी पुष्प को पीडा नहीं पहुँचाता है, उसी प्रकार साधु भी गृहस्थों के अनेक घरों में परिभ्रमण कर बयालीस दोषों से रहित शुद्ध आहार की खोज करते हैं और अपने संयमसाधक शरीर का पोषण करतै हैं । वे पाँचों इंद्रियों के तेईस विषयों और उनके 252 (दो सौ बावन) विकारों के वश में नहीं होते हैं, अर्थात् शुभाशुभ विषयों के प्रति रागद्वेष की प्रवृत्ति का त्याग करते हैं, षट्काय जीवों की अपने प्राणों से अधिक सुरक्षा करते हैं और दूसरों के द्वारा कराते हैं । सत्रह भेदों से युक्त संयम की सम्यक् आराधना करते हैं, सभी जीवों के प्रति नित्य दया का भाव रखते हैं, अठारह हजार शीलांग रूप रथ पर आरूढ़ होकर उसे बिना किसी गलती के ठीक रीति से चलाते हैं, नौ प्रकारों की ब्रह्मगुप्ति (ब्रह्मचर्य की बाड़) का पालन करते हैं, बारह प्रकार के तप में अपने पुरुषार्थ की सुगंध फैलाते हैं, आत्मकल्याण को निरंतर अपना लक्ष्य मानते हैं, जनरंजन और लोकपूजन की कामना से पूरी तरह विरक्त रहते हैं, ऐसे साधु पुरुषों को नमस्कार करना सर्वथा समुचित है ।

प्रश्न 22. साधुओं का ध्यान किस तरह किया जाए?

उत्तर–साधुओं का ध्यान आषाढ़ मास के मेघों की तरह काले रंग से करना चाहिए ।

प्रश्न 23. 'नमो लोए सव्वसाहूणं' इस पद में **'लोए'** का शब्द प्रयोग किस लिए किया गया हैं?

उत्तर–**'लोए'** पद मध्यमंगल के लिए है । **'लोकृ दर्शने'** इस धातु से लोक शब्द बना है । सभी दर्शनार्थक धातुएँ ज्ञानार्थक होती हैं और ज्ञान मंगलरूप है । इसलिए मध्यमंगल के उद्देश्य से **'लोए'** पद रखा गया है । **'लोए'** पद का दूसरा भाव यह है–ढाई द्वीप प्रमाण लोक में साधु निवास करते हैं, इन सभी साधुओं को नमस्कार है ।

प्रश्न 24. 'नमो लोए सव्वसाहूणं' इस पद में **'सव्व'** पद की क्या आवश्यकता है? **'साहूणं'** बहुवचन में हुआ यह प्रयोग ही सभी साधुओं को बताने वाला है । इसलिए पहले चार पदों में **'सव्व'** पद का प्रयोग नहीं किया गया है ।

उत्तर–**'सव्व'** शब्द के प्रयोग के पीछे कुछ ये कारण हैं–

प्रमत्त–अप्रमत्त, स्थविरकल्पिक–जिनकल्पिक, प्रतिमाकल्पिक, यथालन्दकल्पिक, परिहारविशुद्धिकल्पिक, स्थितकल्पिक, स्थितास्थित-कल्पिक तथा कल्पातीत आदि सभी भेदों के साधुओं का स्पष्ट रीति से ग्रहण हो सके, इसलिए **'सव्वसाहूणं'** पद का प्रयोग किया गया है ।

इसके सिवाय **'सव्व'** से प्रत्येकबुद्ध, स्वयं–संबुद्ध तथा बुद्धबोधित आदि भेद वाले भरत, ऐरावत, महाविदेह आदि क्षेत्रों के और सुषमा-दुषमा आदि कालों के सभी साधुओं का ग्रहण हो सकता है ।

यदि **'सव्व'** शब्द न रखा होता तो इस प्रकार अप्रमत्तादि और भरत, ऐरावतादि सभी क्षेत्रों के मुनिसमुदाय का स्पष्ट रूप में बोध नहीं हो पाता । यहाँ इतना याद रखना चाहिए कि–**`श्री आचार्य पद और श्री उपाध्यायपद में उन–उन पदों को पाए हुए स्थविरकल्पिक साधुओं का ही समावेश होता है ।**

2. 'सव्वसाहूणं' इस प्राकृत पद का अनुवाद संस्कृत में अनेक

प्रकार से हो सकता है। **'सव्व'** शब्द न रखा जाए तो उनमें से एक भी अर्थ का ग्रहण नहीं हो सकता है। **'सव्वसाहूणं'** का संस्कृत में अनुवाद **'सार्वसाधूनाम्'** भी हो सकता है। **'सर्वेभ्यो हिताः सर्वाः'** अर्थात् सभी जीवों के लिए हितकारी साधुओं को नमस्कार है।

अथवा

'सर्वैर्नयैर्विशिष्टत्वात् सर्वोऽर्हद्धर्मः तत्र भवोः (तत्स्वीकर्तारः) सार्वाः' अर्थात्, **'सार्व यानी सभी नयों में विशिष्ट जो अर्हद्धर्म'** है, उसको स्वीकार करने वाले सभी साधुओं को नमस्कार हो।

अथवा

साधनरूपत्वात्सर्वेषु, (शुभेषु योगेषु) ये वर्तन्ते ते सार्वाः अर्हन्तः, तान् दुर्नयनिरासेन साधयन्ति, आराधयन्ति, प्रतिष्ठापयन्ति वेति सार्वसाधवस्तेभ्यो नमः। अर्थात् सभी शुभ योगों को जो सिद्ध करते हैं, वे **'सार्व'** यानी **'अरिहन्त'** कहलाते हैं। ऐसे अरिहंतो की जो साधना करते हैं, अर्थात् आज्ञापालन और दुर्नय के निराकरण द्वारा श्री अरिहंतों की आराधना और प्रतिष्ठापना करते हैं, उन सभी साधुओं को नमस्कार है।

'सव्वसाहूण' इस प्राकृत पद का संस्कृत में अनुवाद **'श्रव्यसाधुनाम्'** और **'सव्वसाधुनाम्'** भी हो सकता है। इसमें **'श्रव्य'** शब्द का अर्थ श्रवण करने योग्य होता है। अर्थात् श्रवण करने योग्य वाक्यों के संबन्ध में जो साधु (सावधान) हैं, वे **'श्रव्यसाधु'** हैं।

'सव्य' शब्द का अर्थ दक्षिण अथवा अनुकूल भी होता है। अर्थात मोक्ष के अनुकूल कार्य के बारे में जो निपुण हैं, उन्हें नमस्कार हो।

3. 'नमो लोए सव्वसाहूणं' इस पद में **'लोक'** शब्द से ढाई द्वीपवर्ती मनुष्य लोक का ग्रहण होता है। यह लोक ऊर्ध्वभाग में नौ सो योजन और अधोभाग में नौ सो योजन है। अर्थात् कई लब्धिविशिष्ट साधु मेरुपर्वत की चूलिका तक के प्रदेश में तपस्या करते हैं। उनके साथ मनुष्यलोक में जो–जो साधु हैं, उन सबको नमस्कार हो, ऐसा इस शब्द का तात्पर्य है।

प्रश्न 25. यह पंचपरमेष्ठि–नमस्कार संक्षेप से कर्त्तव्य है या

विस्तार से? यदि संक्षेप से कर्त्तव्य हो, तो सिर्फ 'साधु' और 'सिद्ध' इन दो पदों को ही नमस्कार करना चाहिए, क्योंकि अरिहंत, आचार्य और उपाध्याय पद 'साधु' पद में समाविष्ट हैं। अर्थात् अरिहंतादि तीनों में साधुत्व का त्याग नहीं होता है और यदि नमस्कार विस्तारपूर्वक कर्त्तव्य हो, तो श्री 'ऋषभादि' चौबीस तीर्थंकर, श्री 'पुंडरीकादि' 1452 गणधर आदि प्रत्येक को व्यक्तिशः उच्चारण-पूर्वक ग्रहण करना चाहिए। अर्थात् पृथक्–पृथक् नाम लेकर सबको नमस्कार करना चाहिए।

उत्तर–श्री अरिहंत को नमस्कार करने से जिस फल की प्राप्ति होती है, उस फल की प्राप्ति साधुओं को नमस्कार करने से नहीं हो सकती है। जैसे राजा आदि को नमस्कार करने से जो फल प्राप्त होता है वही फल सामान्य मनुष्यादि को नमस्कार करने से प्राप्त नहीं होता। इसलिए फल की विशेषता को ध्यान में रखकर साधुओं को नमस्कार करते हुए भी अरिहंत को पहले नमस्कार करना योग्य है।

प्रश्न 26. प्रथम नमस्कार, जो सब में मुख्य है उसे करना चाहिए। श्री अरिहंतादि पाँचों परमेष्ठियों में सर्वथा कृतकृत्य होने से श्री सिद्ध मुख्य हैं। इसलिए 'यथाप्रधान' न्याय के अनुसार प्रथम श्री सिद्ध भगवंतों को नमस्कार करना चाहिए और फिर श्री अरिहंतादि को नमस्कार करना चाहिए।

उत्तर–श्री सिद्धों को जानने का कार्य भी अरिहंतों के उपदेश के सिवाय संभव नहीं है। श्री अरिहंत तीर्थ के प्रवर्तन द्वारा अनेक जीवों पर उपकार करते हैं। इतना ही नहीं, बल्कि सिद्धों की आत्माएँ भी अरिहंतों के उपदेश से ही चारित्र पालनकर, कर्मरहित बनकर सिद्धि गति प्राप्त करती हैं। इसलिए सिद्धों से पहले श्री अरिहंतों को नमस्कार करना उचित है।

प्रश्न 27. यदि उपकार आदि का विचार कर नमस्कार करना हो, तो आचार्य आदि को पहले नमस्कार करना चाहिए, क्योंकि किसी समय आचार्य आदि से भी अरिहंतादि का ज्ञान होता है। इस प्रकार आचार्यादि भी महाउपकारी होने से, उनको पहले नमस्कार करना चाहिए।

उत्तर–आचार्यादि को उपदेश देने का सामर्थ्य अरिहंतों के उपदेश से ही प्राप्त होता है, स्वतंत्र रीति से नहीं अर्थात् सभी वस्तुओं के प्रथम परमार्थज्ञापक (परमार्थ का ज्ञान कराने वाले) श्री अरिहंत ही हैं, इसलिए उन्हीं को सबसे पहले नमस्कार करना चाहिए। सामान्यतः सभा या सभा के सदस्यों को नमस्कार करने के बाद राजा को प्रणाम नहीं किया जाता, बल्कि राजा को प्रणाम करने के बाद ही सभा या परिषद् को प्रणाम करने का रिवाज है। उसी प्रकार यहाँ भी पर्षदा में पंडितों के समाज रूप श्री आचार्य आदि को नमस्कार कर राजारूप अरिहंतों को बाद में नमस्कार करना योग्य नहीं है। राजारूप अरिहंत को नमस्कार करने के बाद ही पर्षदारूप आचार्य आदि को नमस्कार करना युक्तियुक्त है। इस संबन्ध में कहा है कि–

पुव्वाणुपुव्वि न कमो, नेव य पच्छाणुपुव्वि एस भवे ।
सिद्धाइआ पढमा, बीआए साहुणो आई ।।1।।
अरहंतुवएसेणं सिद्ध नज्जन्ति तेण अरिहाई ।
नवि कोई परिसाए, पणमित्ता पणमइ रण्णो ।।2।।

प्रश्न 28. श्री नमस्कारमंत्र का क्रम पूर्वापूर्वी हो तो सिद्धों को प्रथम नमस्कार करना चाहिए और पश्चानुपूर्वी हो तो साधुओं को प्रथम नमस्कार करना चाहिए ।

उत्तर–श्री अरिहंतों के उपदेश से सिद्धात्माओं का ज्ञान होता है। परिषद् को प्रणाम करने के बाद कोई राजा को प्रणाम नहीं करता, इसलिए राजा के स्थान पर होने वाले श्री अरिहंतों को ही प्रथम नमस्कार योग्य है।

प्रश्न 29. एसो पंचनमुक्कारो, सव्वपावप्पणासणो ।
मंगलाणं च सव्वेसिं, पढमं हवइ मंगलं ।।

'इन पाँचों को किया गया नमस्कार सभी पापों का प्रणाश (नाश) करनेवाला है तथा सभी प्रकार के मंगलों में प्रथम मंगल है।' इन चार पदों में नमस्कार के फल का वर्णन है । क्या इस प्रकार फल के वर्णन को मूल मंत्र कहना योग्य है?

उत्तर–श्री नमस्कार मंत्र के अंतिम चार पद श्री नमस्कारमंत्र की

चूलिका हैं । चूलिका को मूलमंत्र से भिन्न गिनना योग्य नहीं है । फल का वर्णन भी नमस्कार का ही वर्णन है । अन्यत्र **'नामस्तवाध्ययन'** आदि में भी फल वर्णन सहित सभी पद अध्ययनरूप माने गए हैं । **'फलप्रधानाः समारंभाः'** इस न्याय से जिसके फल का ज्ञान नहीं होता, उसकी ओर विद्वान् भी प्रवृत्त नहीं होते हैं । इसलिए चूलिका से रहित श्री नमस्कारमंत्र अपूर्ण और विद्वानों की प्रवृत्ति के लिए अयोग्य है । आगम ग्रंथों में भी चूलिकासहित नवकारमंत्र का महामंत्र के रूप में प्रतिपादन किया गया है ।

प्रश्न 30. किसी भी वर्तमान आगम (शास्त्र) में श्री नमस्कारमंत्र के नौ पद, आठ संपदा और अड़सठ अक्षरों से युक्त नहीं कहा है । लेकिन 'श्री भगवती' आदि सिद्धांत में नमस्कार के पैंतीस अक्षरों से युक्त पाँच ही पद कहे है । इसलिए कई लोग नमस्कार मंत्र को नौ पदात्मक नहीं, बल्कि पाँच पदात्मक मानते हैं । क्या यह योग्य है ?

उत्तर–भगवान् श्री वज्रस्वामीजी आदि दशपूर्वधरादि बहुश्रुत, संविज्ञ (ज्ञानी) और सुविहित महर्षियों ने छेदसूत्रादि की व्याख्या के प्रसंग में नमस्कारमंत्र को नौ पद, आठ संपदा और अड़सठ अक्षरों से युक्त बताया है । इसलिए नमस्कारमंत्र को पंचपदात्मक नहीं, बल्कि नौ पदात्मक मानना ही योग्य है ।

'श्री महानिशीथ' नामक श्रुतस्कध में पदानुसारी लब्धि के धारक दशपूर्वधर भगवान् श्री **वज्रस्वामीजी** ने पंचमंगल महाश्रुतस्कंध को अड़सठ अक्षरात्मक और नौ पदात्मक बताया है ।

'श्री महानिशीथ सूत्र' श्री जिनमत में समस्त प्रवचनों का परम सारभूत, अतिशययुक्त और महान् अर्थों से भरा हुआ है । **'श्री महानिशीथ सूत्र'** भगवान श्री हरिभद्रसूरिजी ने अपनी बुद्धि के अनुसार संशोधित कर लिखा है । श्री सिद्धसेन दिवाकर, वृद्धवादी, यक्षसेन, देवदत्त, रविगुप्त, नेमिचंद्र, जिनदास गणि, सत्यश्री आदि अन्य अनेक युग प्रधान और श्रुतधर सूरिपुंगवों ने उसका बहुत सम्मान किया है इसलिए जिनमत में वह एक परम प्रामाणिक सूत्रग्रंथ है ।

प्रश्न 31. 'मंगल' शब्द का क्या अर्थ है ?

उत्तर–'मंगति हितार्थं सर्पतीति मंगलम्' अथवा 'मंगति दुरदृष्टमनेन अस्माद्वेति मंगलम् ।' अर्थात् जो सभी प्राणियों के हित के लिए दौड़ता है अथवा जिससे दुर्भाग्य दूर चला जाता है, वह मंगल कहलाता है । अर्थात् हितार्थ की प्राप्ति और अहितार्थ से निवृत्ति यह मंगल का कार्य है ।

प्रश्न 32. 'श्री पंचपरमेष्ठियों को किया गया नमस्कार सभी मंगलों में प्रथम मंगल है ।' इस अर्थ को बतानेवाले पदों का क्या तात्पर्य है?

उत्तर–मंगल दो प्रकार का होता है–द्रव्य या लौकिक मंगल और भाव या लोकोत्तर मंगल । दही, दूर्वा, अक्षत, श्रीफल, चंदन, केशर, कुंकुम आदि लौकिक या द्रव्यमंगल हैं अर्थात् फल देने में एकान्तिक (आवश्यक) या आत्यंतिक (सर्वश्रेष्ठ) नहीं हैं । इसी प्रकार नाममंगल और स्थापनामंगल भी वांछित अर्थ की सिद्धि की दृष्टि से अनेकान्तिक (आवश्यक हो ही ऐसे नहीं) और अनात्यंतिक (अपूर्ण) हैं । इसके विपरीत भाव या लोकोत्तर मंगल सभी अभिप्रेत अर्थ की सिद्धि से लिए ऐकान्तिक (आवश्यक) और आत्यंतिक (संपूर्ण) है अर्थात् वह सर्वथा और सर्वदा मंगलरूप है । इसीलिए नाम, स्थापना या द्रव्यमंगल की अपेक्षा भावमंगल पूजनीय और प्रधान है । यह भावमंगल तप, जप ,यम ,नियम आदि अनेक प्रकार से होता है । इन सबसे **'श्री पंचपरमेष्ठी–नमस्कार'** यह उत्कृष्ट और सबसे बड़ा मंगल है । इसका कारण यह है कि इसमें जिन परमेष्ठियों को नमस्कार किया जाता है ,वे परमेष्ठी परम मंगल ,परम लोकोत्तम और परमशरणागतवत्सल रूप हैं । इस संबन्ध में शास्त्रों में कहा है कि–

'चत्तारि मंगलं । अरिहंता मंगलं, सिद्धा मंगलं, साहू मंगलं । केवलिपन्नत्तो धम्मो मंगलं ।'

'चत्तारि लोगुत्तमा । अरिहंता लोगुत्तमा, सिद्धा लोगुत्तमा, साहू लोगुत्तमा, केवलिपन्नत्तो धम्मो लोगुत्तमो ।'

'चत्तारि सरणं पवज्जामि । अरिहंते सरणं पवज्जामि, सिद्धे

सरणं पवज्जामि, साहूसरणं पवज्जामि, केवलिपन्नत्तं धम्मं सरणं पवज्जामि ।'

अर्थात्, चार वस्तुएँ मंगल रूप हैं–अरिहंत मंगलरूप हैं, सिद्ध मंगल रूप हैं, साधु मंगल रूप हैं और केवलीकथित (प्रणीत) धर्म मंगलरूप है ।

चार वस्तुएँ लोकोत्तम हैं । –अरिहंत लोकोत्तम हैं, सिद्ध लोकोत्तम हैं, साधु लोकोत्तम हैं और केवलीकथिक धर्म लोकोत्तम है ।

चार वस्तुएँ शरण्य/शरणरूप हैं–अरिहंत शरणरूप हैं, सिद्ध शरणरूप हैं, साधु शरणरूप हैं, और केवलीप्ररुपित धर्म शरणरूप है ।

प्रश्न 33. श्री नमस्कार महामंत्र के कितने अक्षर हैं?

उत्तर–श्री नमस्कार महामंत्र के कुल अड़सठ अक्षर हैं । उसमें पहले पाँच पद मूलमंत्र स्वरूप हैं–उसमें व्यंजनसहित लघु अक्षर 32 और गुरु अक्षर 3, कुल 35 अक्षर हैं । अंतिम चार पद चूलिका के हैं–उसमें मूलमंत्र के प्रभाव (फल) का वर्णन है । उसमें व्यंजनसहित 29 लघु अक्षर और 4 गुरु अक्षर कुल 33 अक्षर हैं । इन दोनों के अक्षरों को मिलाने से मंत्र के कुल अक्षरों की संख्या 68 होती है ।

प्रश्न 34. कुछ लोग 'हवइ मंगलं' के स्थान पर 'होइ मंगलं' कहते हैं? क्या यह ठीक है?

उत्तर–'हवई' शब्द के स्थान पर **'होइ'** कहने से यद्यपि अर्थ में कोई अंतर नहीं आता है, लेकिन **'होइ'** बोलने से चूलिका के अक्षरों की संख्या 33 के स्थान पर 32 हो जाती है । इससे भी नवकार के कुल 68 अक्षरों की संख्या नहीं मिलती है । **'श्री महानिशीथ'** सूत्र में कहा है कि–

'तहेव इक्कारसपयपरिच्छिन्न–तिआलावग–तित्तीसअक्खर-परिमाणं, एसो पंचनमुक्कारो, सव्वपावप्पणासणो, मंगलाणं च सव्वेसिं, पढमं हवइ मंगलं तिचूलम् ।'

अर्थात् श्री पंचपरमेष्ठी–नमस्काररूप मूल मंत्र की चूलिका ग्यारह पद, 33 अक्षरों वाली और तीन आलापों से युक्त है अर्थात् मूलमंत्र के प्रभाव को बताने वाले चार पदों के अक्षर तैंतीस हैं और आलापक तीन हैं ।

'श्री नमस्कारावलिका ग्रंथ में कहा है कि किसी कार्यविशेष के उपस्थित होने पर जब चूलिका के चार पदों का ही ध्यान करना हो, तब बत्तीस पंखुड़ियों के कमल की कल्पना कर एक–एक अक्षर को एक–एक पंखुड़ी पर स्थापन किया जाए और तैंतीसवें अक्षर को मध्य कर्णिता में स्थापन कर ध्यान करना चाहिए ।'

'होइ मंगलं' यह पाठ यदि माना जाए, तो यह ध्यान कदापि नहीं हो सकता है, क्योंकि अक्षर बत्तीस हो जाते हैं इसलिए **'हवइ मंगलं '**यही शास्त्रसिद्ध पाठ है ।

प्रश्न 35. श्री नवकार मंत्र की चूलिका में तैंतीस अक्षर मानने से, क्या छंदोभंग का दोष नहीं आता है?

उत्तर–छंदशास्त्र में बत्तीस अक्षरों की तरह तैंतीस अक्षरों के भी छंद माने गए हैं । श्री आगम/शास्त्र ग्रंथों में तैंतीस अक्षरों के अनेक श्लोक आते हैं । उदाहरण के लिए **'श्री दशवैकालिक सूत्र'** की ये गाथाएँ देखी जा सकती हैं–

जहा दुमस्स पुप्फेसु, भमरो आवियइ रसं ।
न य पुप्फं किलामेइ, सो अ पीणेइ अप्पयं।।
अहं च भोगरायस्स, तं च सि अंधगवण्हिणो ।
मा कुले गंधणा होमो, संजमं निहुओ चर।।

आदि ।

प्रश्न 36. श्री पंचपरमेष्ठी–नमस्कार मंत्र का 108 बार जाप करना चाहिए, क्योंकि श्री पंचपरमेष्ठियों के गुण 108 हैं, ऐसा कहा जाता है, तो श्री पंचपरमेष्ठियों के ये 108 गुण कौन से और किस तरह हैं?

उत्तर–शास्त्रों में कहा है कि–

बारसगुण अरिहन्ता, सिद्धा अट्ठेव सूरि छत्तीसं ।
उवज्झाया पणवीसं, साहू सत्तवीस अट्ठसयं।।

अर्थ :– अरिहंतों के गुण 12, सिद्धों के 8, आचार्यों के 36, उपाध्यायों के 25 और साधुओं के 27, इस प्रकार पाँचों परमेष्ठियों के गुण

कुल मिलाकर 12 + 8 + 36 + 25 +27 = 108 (एक सौ आठ) हैं ।

इन एक सौ आठ गुणों का विस्तृत वर्णन **'श्री नवकारपद आराधन विधि'** आदि पुस्तकों में अनेक बार आया है, इसलिए विस्तारभय से उसे यहाँ नहीं दिया जा रहा है ।

प्रश्न 37. 'नमस्कार' का शब्दार्थ क्या है?

उत्तर–'नमस्कारो नतिकरणमुच्यते । तत्तु करशिरः संयोगादिस्वापकर्षबोधक व्यापारविशेषः ।'

अर्थात् नमन करने की क्रिया का नाम नमस्कार है । इसके द्वारा नमस्कार्य के सामने अपनी हीनता–न्यूनता–नम्रता प्रकट की जाती है । इस नम्रता प्रकट करने की क्रिया को नमस्कार कहते हैं अर्थात् हाथ, पाँव और मस्तक आदि मस्तक आदि के संयोग द्वारा अपनी हीनदशा को प्रकट करनेवाला व्यापार क्रिया नमस्कार है ।

प्रश्न 38. श्री नवकारमंत्र में 'अरिहंताणं नमो', इत्यादि पाठ न रख कर 'नमो अरिहंताणं' इत्यादि पाठ क्यों रखा है? पहले नमस्कार्य का प्रतिपादन कर फिर 'नमः' शब्द का प्रयोग अनेक स्थानों में देखा जाता है ।

उत्तर–'न' कार अक्षर ज्ञान का वाचक है । ज्ञान मंगलरूप है, इसलिए आदि मंगल के हेतुभूत **'न'** कार को प्रारंभ में रखा हैं । जगत् कल्याणकारी होने वाले प्रतिपाद्य विषय का प्रतिपादन करते समय आदि, मध्य और अंत में मंगल करना चाहिए, यही आप्तकथन है । इस प्रकार त्रिविध मंगल करने से पठक, पाठक और चिंतक इन सबका सदैव मंगल होता है तथा प्रतिपाद्य विषय की बाधारहित समाप्ति होती है और उसकी प्रवृत्ति बराबर चलती है । **'न'** कार द्वारा जैसे आदि मंगल किया गया है, वैसे ही **'लोए'** पद द्वारा मध्यमंगल किया गया है और **'मंगलं'** इस पद द्वारा अंतिम मंगल किया गया है ।

प्रश्न 39. प्रधानता के अनुसार नमस्कार मंत्र में पाँचों पदों में ज्येष्ठानुज्येष्ठ क्रम रखा गया है, उसे जरा विस्तार से समझाए ।

उत्तर–अरिहंतों के उपदेश से सिद्धों का ज्ञान होता है और भव्यात्माएँ चारित्र का आदर कर कर्मरहित होकर सिद्ध पद प्राप्त करती हैं। आचार्यो को उपदेश देने का सामर्थ्य भी अरिहंतों के उपदेश से प्राप्त होता है, इसलिए अरिहंत प्रथम क्रम पर हैं। कृतकृत्यता की अपेक्षा से सर्वथा कृतकृत्य होने से सिद्ध दूसरे स्थान पर हैं। आचार्यो से शिक्षा प्राप्त कर उपाध्याय स्वकर्त्तव्य का पालन करते हैं, इसलिए आचार्य का क्रम तीसरा है। साधुजन आचार्यों और उपाध्यायों से दशविध यतिधर्म का ज्ञान प्राप्त कर स्वकर्त्तव्यपालन करते हैं, इसलिए भी उपाध्याय चौथे और साधु पाँचवे क्रम पर हैं। इस प्रकार अरिहंत आदि पाँचो उत्तर–उत्तर की अपेक्षा पूर्व–पूर्व की प्रधानता द्वारा ज्येष्ठानुज्येष्ठ क्रम को स्वीकार कर पहले अरिहंतों को, फिर सिद्धों को, फिर आचार्यों को, फिर उपाध्यायों को और अंत में भी साधुओं को नमस्कार किया गया है।

प्रश्न 40. 'एसो पंच नमुक्कारो' इस पद के स्थान पर अनेक लोग 'एसो पंच नमोक्कारो' पद बोलते हैं, तो इसमें कौन–सा पद सत्य मानना चाहिए?

उत्तर–संस्कृत में **'नमस्कार'** शब्द है। उसके प्राकृत में दो रूप बनते हैं– 1. नमोक्कार, 2. नमुक्कार। ये दोनों रूप ठीक हैं। दोनों रूप व्याकरण के नियम से सिद्ध हैं फिर भी पाठभेद न हो, इसलिए **'एसो पंच नमुक्कारो'** यह पाठ बोलना ही उचित है। मंत्राक्षरों के उच्चारण में बार–बार पाठभेद करना ठीक नहीं है।

प्रश्न 41. 'नमो अरिहंताणं' पद में अष्टमहाप्रातिहार्यादि बारह गुणों से युक्त श्री तीर्थंकर देवों को ग्रहण किया जाता है, तो फिर तीर्थंकर देवों के अतिरिक्त अन्य केवलज्ञानी महर्षियों को किस पद से ग्रहण करना चाहिए?

उत्तर–सामान्य केवलज्ञानियों का ग्रहण **'नमो लोए सव्वसाहूणं'** पद से हो जाता है। इस पद में **'लोए'** और **'सव्व'** ये दो शब्द लोक में होने वाले सभी प्रकार के मुनिवरों के समावेश के लिए प्रयुक्त हुए हैं।

उनमें केवलज्ञानी, परमावधिज्ञानी, विपुलमति, ऋजुमति, मनः पर्यायज्ञानी; चतुर्दशपूर्वधर, दशपूर्वधर, एकादशांगधारक , जिनकल्पधारक, क्षीरस्त्रवी, मध्वास्त्रवी, सर्पिरास्त्रवी, संभिन्नस्त्रोत्र आदि लब्धियों के धारक, कोष्ठबुद्धि, बीजबुद्धि, पदानुसारी लब्धि, चारणलब्धि आदि लब्धियों को धारण करने वाले सभी मुनिवरों का समावेश होता है। इससे उनके लिए अलग पद की आवश्यकता नहीं है।

प्रश्न 42. अर्हदादि पाँच नमस्कार्य परमेष्ठियों में प्रत्येक के साथ 'नमो' पद रखा गया है, उसके स्थान पर प्रारंभ में एक ही बार 'नमो' पद का कथन किया जाए तो शेष पदों में 'नमो' पद अध्याहार रह सकता है, फिर प्रत्येक बार 'नमो' पद का करने का प्रयोजन क्या है?

उत्तर–श्री नमस्कार मंत्र को गिनने के तीन प्रकार की रीतियाँ है–पूर्वानुपूर्वी, अनानुपूर्वी और पश्चानुपूर्वी। इन तीन रीतियों से नवकार का जाप हो सकता है। इनमें से पूर्वानुपूर्वी से गिनते समय प्रथम पद **'नमस्'** शब्द शेष चारों पदों में अध्याहार से आ सकता है, लेकिन अनानुपूर्वी और पश्चानुपूर्वी से गिनते समय प्रारंभिक **'नमः'** पद का अन्वय पाँचों नमस्कार्यो के साथ प्रत्येक खंड में नहीं हो सकता है। इसलिए पाँचों पदों में **'नमः'** शब्द का प्रयोग करना आवश्यक है।

प्रश्न 43. नमस्कार मंत्र गिनने की तीन रीतियाँ बताई, उसका क्या अर्थ है?

उत्तर–क्रम से पदों को गिनना पूर्वानुपूर्वी रीति है; जैसे1-2-3- 4-5-6-7-8-9। उत्क्रम से अर्थात् उलटे पदों से गिनना पश्चानुपूर्वी रीति है; जैसे 9-8-7-6-5-4-3-2-1। क्रम और उत्क्रम को छोड़कर अन्य सभी प्रकार की गिनने की क्रिया अनानुपूर्वी रीति है–जैस 6-7-8-5-9-3-4-1-2 आदि। नो पदों की पूर्वानुपूर्वी का एक प्रकार है, पश्चानुपूर्वी का एक प्रकार है तो अनानुपूर्वी के तीन लाख, बासठ हजार, आठ सौ अठहत्तर (362878) प्रकार है। इस प्रकार नमस्कार को गिनने के कुल प्रकार

362880 हो जाते हैं । कितने पदों के कितने भंग होते हैं, उसे निश्चित करने के लिए गणित की रीति इस प्रकार है–जितने पद हैं, उनको परस्पर गुनना चाहिए । जैसे पाँच पद हों–तो भंग 1 x 2 x 3 x 4 x 5 = 120 होंगे । छः पद हों तो भंग प्रकार 120 x 6 = 720 होंगे । इस प्रकार जितने पद होंगे, उनका परस्पर गुनाकार करने से जो संख्या आएगी, उतने भंग होंगे । उनमें पहले और अंतिम अर्थात् पूर्वानुपूर्वी और पश्चानुपूर्वी के दो भंग छोड़कर बाकी सारे भंग अनानुपूर्वी के होते हैं ।

प्रश्न 44. 'एसो पंच नमुक्कारो' इस पद का अर्थ क्या है?

उत्तर–'एसो पंच नमुक्कारो' यह तत्पुरुष समास है । यह द्विगु या समाहार द्वंद समास नहीं है । **पंचानाम् संबंधे, पञ्चभ्यो वा नमस्कारः इति पंच नमस्कारः ।** अर्थात् पाँचों को किया हुआ नमस्कार यह अर्थ होता है । इसके स्थान पर **'ये पाँच नमस्कार'** ऐसा अर्थ किया जाए, तो वह समाहार द्वंद्व/द्विगु बन जाएगा । इस अवस्था में द्विगु समास का प्रयोग स्त्रीलिंग या नपुंसकलिंग में करना चाहिए । जैसे–त्रिलोकी, त्रिभुवनम्, पंचपात्रम् आदि । लेकिन यहाँ तो पुल्लिंग का निर्देश है । इसलिए इसे तत्पुरुष समास समझकर **'इन पाँचों को किया गया नमस्कार'** ऐसा अर्थ करना चाहिए ।

प्रश्न 45. उक्त पद में 'पंच' शब्द का प्रयोग निरर्थक है, क्योंकि 'एसो नमुक्कारो' कहने से भी 'पाँचों को किया गया नमस्कार' इस अर्थ का बोध होता है ।

उत्तर–'पंच' शब्द का प्रयोग स्पष्टता के लिए है । दूसरा कारण यह भी है कि **'एसो'** यह एतद् सर्वनाम का रूप है । तथा **'एतद्'** शब्द प्रत्यक्ष और आसन्नवर्ती निकट होने वाले पदार्थ का वाचक है । कहा भी है कि–

'इदमस्तु सन्निकृष्टे समीपतरवर्ति चैतदोरूपम् ।'

इसलिए यदि **'पंच'** शब्द का प्रयोग न किया होता तो उसमें सबसे निकट होने वाले **'साधु का ही नमस्कार'** यह संभावना हो सकती

थी । लेकिन **'पंच'** शब्द के प्रयोग से बिना किसी भ्रम के पाँचों को ही नमस्कार की संभावना सिद्ध होती है ।

प्रश्न 46. सातवाँ पद 'सव्वपावप्पणासणो' यह है, तो इस पद के कथन की क्या आवश्यकता थी? आठवें और नौवें पदों में तो कहा गया है कि ये पाँच नमस्कार सभी मंगलों में प्रथम मंगल हैं । इससे अर्थापत्ति प्रमाण से यह बात स्वयं सिद्ध हो जाती है कि 'नमस्कार सभी पापों का नाशक है', क्योंकि सभी पापों का नाश हुए बिना मंगल हो ही नहीं सकता है इसलिए सातवें पद का प्रयोग निरर्थक लगता है ।

उत्तर–अर्थापत्ति प्रमाण से **'सर्व पापों का नाश होता है'** यह बात समझ में आ सकती थी, लेकिन इन पापों का समूल नाश होता है या आंशिक नाश होता है, यह बात निश्चित नहीं हो सकती थी । नाश तीन प्रकार से होता है–क्षय, उपशम और क्षयोपशम । इसमें समूल नाश को **'क्षय'** कहा जाता है ।

श्री नंदीसूत्र में कहा है कि **'क्षयो निर्मूलमपगमः ।'** अर्थात् निर्मूल/समूल नाश का नाम क्षय है । ऐसा होने से पाप का फिर से उद्‌गम नहीं होता है ।

उपशम शांतावस्था को कहा जाता है । जैसे, **'अनुद्रेकावस्थोपशमः।'** अग्नि के अंगारों को राख से दबा देने जैसी शांतावस्था है । राख के हट जाने पर वही अग्नि वायु–संसर्ग आदि से प्रबल होकर दहन करने का कार्य कर सकती है, उसके अनुसार उपशम अवस्था को समझना चाहिए ।

जब वस्तु के एक भाग का क्षय (निर्मूल नाश) होता है और अन्य भागों की उपशमावस्था होती है, तो वह क्षयोपशम है । इस अवस्था में कारण–सामग्री मिल जाए तो फिर पाप की वृद्धि होती है ।

इसलिए सातवें पद का कथन करने का प्रयोजन यह है कि नमस्कार समस्त पापों का उपशम या क्षयोपशम नहीं करता, बल्कि

'प्पणासणो' अर्थात् निर्मूल नाश करता है, जिससे इन पापों का फिर से कभी उद्भव न हो सके ।

प्रश्न 47. 'सव्वपावप्पणासणो' इस पद में 'सव्व' शब्द का प्रयोग न किया जाए, तो भी 'पापानि प्रणश्यति' इस व्युत्पत्ति से 'सभी पापों का समूल नाश करनेवाला है' यह अर्थ सिद्ध हो सकता है । फिर 'सव्व' शब्द की क्या आवश्यकता है?

उत्तर–यहाँ भी **'सव्व'** शब्द स्पष्टता के लिए है । व्युत्पत्ति द्वारा होनेवाले अर्थ का ज्ञान **विद्वद्गम्य** है । इतना ही नहीं, बल्कि **'पापं प्रणाशयति इति पापप्रणाशनः'** ऐसी व्युत्पति भी हो सकती है । ऐसी स्थिति में एक पाप का नाश करता है, कुछ पापों का नाश कराता है या सभी पापों का नाश करता है–यह शंका बनी रहती है । यह शंका खड़ी ही न रहे, इसलिए तथा सामान्यजनों की बुद्धि के लिए गम्य हो, इसलिए **'सव्व'** शब्द का प्रयोग परमावश्यक है ।

प्रश्न 48. आठवें पद में 'सव्वेसिं' पद का प्रयोग निरर्थक है । नौवें पद में मंगलाणं इस बहुवचनान्त पद से 'सर्व' शब्द को समझा जा सकता है ।

उत्तर–जगत् हितकारी विषय का सबको सुखपूर्वक और भ्रमरहित बोध हो इसलिए यहाँ भी **'सव्वेसिं'** पद की आवश्यकता है । दूसरा कारण यह भी है कि लोक में मंगलों की संख्या एक नहीं, बल्कि अनेक है । उनमें से कितने ही मंगलों का बोध कराने के लिए भी **'मंगलाणं'** यह बहुवचनान्त पद प्रतुक्त हो सकता है । इसलिए कुछ मंगल नहीं, बल्कि सभी मंगलों का ग्रहण हो, इसलिए विशेष रूप से **'सव्वेसिं'** शब्द का प्रयोग करना अत्यंत आवश्यक है ।

प्रश्न 49. आठवें पद का कथन किए बिना ही यदि नौवें पद का कथन किया जाए तो भी (नौवें पद में आई हुई प्रथमत्व की अन्यथा सिद्धि से ही) अर्थापत्ति प्रमाण से आठवें पद की प्रतीति हो

सकती है । जैसे, 'प्रथम मंगल है' का अर्थ ही 'सभी मंगलों में प्रथम मंगल है' यह होता है ।

उत्तर–अर्थापत्ति प्रमाण से अर्थ की प्रतीति सिर्फ विद्वानों को ही हो सकती है । सामान्यजनों को उक्त अर्थ की प्रतीति कराने के लिए आठवें पद की परम आवश्यकता है । दूसरा कारण यह है कि आठवें पद का कथन किए बिना ही यदि **'पढमं हवइ मंगलं'** कहा जाए तो व्याकरणादि ग्रंथों के अनुसार प्रथम शब्द क्रियाविशेषण भी बन जाता है और उसका अर्थ यह भी होता है कि यह पंचनमस्कार **'प्रथम अर्थात् पूर्वकाल में (किंतु उत्तरकाल में नहीं) मंगलरूप है'** इस अनिष्ट अर्थ की संभावना होने से पंचनमस्कार का सार्वकालिक मंगलरूपत्व असिद्ध न बन जाए, इसलिए इस आठवें पद की आवश्यकता है ।

प्रश्न 50. नौवें पद में–'पढमं हवइ मंगलं' इस पद में 'प्रथम' शब्द का प्रयोग किया, उसके स्थान पर उत्तम, उत्कृष्ट, प्रधान आदि शब्दों में से किसी भी शब्द का प्रयोग किया जाता तो क्या हर्ज था?

उत्तर–**'उत्तर'** आदि शब्दों का प्रयोग न कर **'प्रथम'** शब्द का प्रयोग किया गया, उसका कारण यह है कि **'प्रथम'** शब्द **'पृथु विस्तारे'** इस धातु से बना हुआ है । उससे यह ध्वनि निकलती है कि यह पंच नमस्कार सभी मंगलों में उत्तम मंगल है, इतना ही नहीं, बल्कि वह मंगल प्रतिदिन वृद्धि को प्राप्त होकर विस्तीर्ण होता रहे अर्थात् उसमें कभी भी ह्रास (न्यूनता) नहीं होता, बल्कि वृद्धि ही होती है । यदि **'प्रथम'** शब्द के प्रयोग के बदले **'उत्तमादि'** शब्दों में से किसी शब्द का प्रयोग किया जाय, तो यह ध्वनि निकल नहीं सकती थी ।

प्रश्न 51. नौवें पद में 'हवइ' क्रिया का प्रयोग न किया होता, तो भी अध्याहार से 'हवइ' क्रिया का अर्थ जाना जा सकता था । वाक्यों में प्रायः 'अस्ति', 'भवति' आदि क्रियाओं का अध्याहार होने पर भी उसका अर्थ जाना जा सकता है ।

उत्तर–अध्याहार से अर्थ तो जाना जा सकता है, फिर भी **'हवइ'** इस क्रिया के प्रयोग का प्रयोजन यह है कि उक्त मंगल की होने की क्रिया, अर्थात् सत्ता, निरंतर विद्यमान रहती है । तात्पर्य यह है कि पंच नमस्कार सभी मंगलों में वृद्धिंगत होने वाला उत्कृष्ट मंगल है और यह मंगल निरंतर विद्यमान रहता है । यदि **'हवइ'** क्रिया का प्रयोग न किया जाता, तो ऐसा अर्थ निकलना कभी संभव न होता ।

प्रश्न ५२. नौवें पद के अंत में 'मंगलं' इस पद का प्रयोग न किया जाता, तो भी 'मंगलं' पद का अध्याहार हो सकता था, अर्थात् (यह पंच नमस्कार) 'सभी मंगलों में प्रथम है' ऐसा कहने से 'प्रथम मंगल है' यह बात सिद्ध हो सकती थी । जैसे, 'कवीनां कालिदासः श्रेष्ठ' आदि वाक्यों में 'कवि' आदि शब्दों का प्रयोग न करने पर भी उसके अर्थ की अनायास प्रतीति हो सकती है ।

उत्तर–**'मंगलं'** इस पद का प्रयोग किए बिना भी उसके अर्थ की प्रतीति हो सकती थी । फिर भी हम पहले कह आए हैं कि जगत् कल्याणकारी प्रतिपाद्य विषय के प्रतिपादन में आदि, मध्य और अंत्य मंगल करना यह आप्तनिर्दिष्ट है । ऐसा करने से अध्ययन करने वाला, अध्यापन करनेवाला और चिंतन करनेवाला इन सबका सदैव मंगल होता है तथा प्रतिपाद्य विषय की निर्विघ्न समाप्ति होकर उसका प्रचार चलता रहता है । इसीलिए यहाँ अंतिम मंगल करने के लिए मंगलार्थ वाचक **'मंगलं'** शब्द का प्रत्यक्ष प्रयोग किया गया है ।

4 श्री नवकार मंत्र का विस्तृत परिचय

पंच परमेष्ठियों के नमस्कार रूप महामंत्र **'श्री नवकारमंत्र'** के नाम से जैनशासन में सुप्रसिद्ध है। श्री जैनशासन के मंतव्य के अनुसार यह **'नवकार मंत्र'** सभी मंगलों का मूल है, समग्र जैनशासन का सार, ग्यारह अंग और चौदह पूर्वों का उद्धार है और शाश्वत है।

इस नवकारमंत्र का विवरण करते हुए श्री **'प्रवचनसारोद्धार'** वृत्तिकार कहते हैं–

• सभी मंत्ररत्नों की उत्पत्ति का मूल स्थान, सभी इच्छित पदार्थों को पूरी तरह पाने के लिए अद्वितीय कल्पवृक्ष; विष, विषधर, शाकिनी, डाकिनी, याकिनी आदि उपद्रवों का नियंत्रण करनेवाला, सकल जगत् को वश में करने के लिए अव्यभिचारी, प्रौढ़प्रभावसंपन्न, चौदह पूर्वों के रहस्यभूत श्री पंचपरमेष्ठी–नमस्कार की महिमा तीनों लोकों में हमेशा के लिए सर्वश्रेष्ठ है, अत्यंत अद्‌भुत है, यह बात सभी सिद्धान्तवेत्ता निर्विवाद रूप में स्वीकार करते हैं।

इस लोक में जैसे धर्मास्तिकाय आदि षड्‌ द्रव्य प्रसिद्ध और स्वयंसिद्ध हैं, वैसे ही श्री नमस्कारमंत्र भी समस्त लोक में प्रसिद्ध और स्वयंसिद्ध अर्थात् अकृत्रिम है। अतिगंभीर **'श्री महानिशीथ'** नामक छेदसूत्र में श्री नवकारमंत्र की भूरि–भूरि प्रशंसा की गई है और सभी श्रुतस्कंधों में उसे महाश्रुतस्कंध के रूप में बताया गया है। **'श्री विशेषावश्यक महाभाष्य'** में भी पंचमंगल महाश्रुतस्कंधात्मक श्री नवकारमंत्र की सर्वश्रुताभ्यन्तरता अनेक तरह से सिद्ध की गई है।

'श्री पंचपरमेष्ठी–नमस्कार' सभी मंगलों में प्रथम है, इसलिए वह सभी श्रुतों में समा जाता है। इतना ही नहीं, बल्कि श्री नंदी सूत्र में सभी श्रुत स्कंधों का वर्णन करते समय पंच नमस्कारात्मक पंच मंगल महाश्रुतस्कंध का पृथक्–अलग श्रुतस्कंध के रूप में वर्णन है, इससे भी

यह स्पष्ट हो जाता है कि पंचपरमेष्ठी नमस्कार सभी श्रुतस्कंधों में आभ्यंतर है ।

शास्त्रों में श्री नवकारमंत्र सभी की जो महिमा वर्णन की गई है, उसकी थोड़ी–सी झलक देने के लिए परम उपकारी **श्री यशोविजयजी** महाराज गुजराती में पद्यबद्ध रूप में गुफित **'श्री पंचपरमेष्ठी–गीता'** में अलकृत ढंग श्री नवकारमंत्र की महिमा का वर्णन करते हुए कहते हैं कि–

जिस प्रकार पर्वतों में मेरु पर्वत, वृक्षों में कल्पतरु, सुगंधों में चंदन, वनों में नंदनवन, पशुओं में सिंह, पंछियों में गरुड़, तारों में चंद्रमा, नदियों में गंगा, रूपवानों में कामदेव, देवों में इंद्र, समुद्रों में स्वयंभूरमण समुद्र, पराक्रमी योद्धाओं में त्रिखंडाधिपति वासुदेव, नागों में शेषनाग, शब्दों में आषाढ़ी मेघ की गर्जना, रसों में ईक्षु रस, फूलों में कमल, औषधियों में अमृत, राजाओं में रामचंद्रजी, सत्यवादियों में धर्मराज युधिष्ठर, धैर्य में निष्प्रकंपता, मांगलिक वस्तुओं में धर्म, सामुदायिक सुखों में एकता या मेल, धर्मों में दयाधर्म, व्रतों में ब्रह्मचर्यव्रत, दानों में अभयदान, तपों में सत्य, रत्नों में व्रजरत्न, नरों में स्वस्थ नर, शीतलता में बर्फ, धीरता में धीर व्रतधारी उसी प्रकार ही सभी मंत्रों में नवकारमंत्र सारभूत और श्रेष्ठ है । मंत्र का उपकार सहस्त्र मुखों से भी कहा नहीं जा सकता है ।

सर्वश्रेष्ठ नवकारमंत्र की प्राप्ति के बाद जो जीव अन्य मंत्रों की प्राप्ति की अभिलाषा रखते हैं, उनकी करुण दशा का चित्र खींचते हुए उपाध्यायजी महाराज कहते हैं–

तजे अे सार नवकार मंत्र, जे अवर मंत्र सेवे स्वतंत्र,
कर्म प्रतिकूल बाउल सेवे, तेह सुरतरु त्यजी आप टेवे ।

अर्थात् इस सारभूत नवकारमंत्र का त्याग कर जो स्वतंत्र रीति से अन्य मंत्रों की उपासना करते हैं, उनका कर्म सचमुच ही प्रतिकूल है । अन्यथा, सभी इच्छित वस्तुएँ देने वाले कल्पवृक्ष का त्याग कर दु:खमयी काँटे ही देनेवाले बबूल की उपासना करने को मन कैसे होगा ?

जगत् में अन्य जो कोई मंत्र फलदायी है, वे सभी नवकारमंत्र के बीज से ही वासित हैं। वे अव्यभिचारी फलदायक भी नहीं हैं। इसी बात का निरूपण करते हुए उपाध्याय जी आगे कहते हैं–

एहने बीजे रे वासित, होवे उपासित मंत ।
बीजो पण फलदायक, नायक छे एह तंत ।।
अमृत उदधि कुसारा, सारा हरत विकारा ।
विषना ते गुण अमृत नो, पवन नो नहि रे लगार ।।

श्री नवकारमंत्र सभी मंत्रों का नायक है। श्री नवकारमंत्र के बीज से वासित मंत्र की उपासना ही फलदायी होती है। अन्यथा, वह निष्फल जाती है। सर्वज्ञ शास्त्रों में यही कहा गया हैं। अमृतसागर के बिंदुकणों से सभी प्रकार के विष के विकार नष्ट हो जाते हैं, यह अमृत का गुण है, बिंदुकणों को लाने वाले पवन का नहीं है। उसी प्रकार अन्य मंत्रों को भी फलीभूत करनेवाला श्री नवकारमंत्र है, अर्थात् बीज रूप में नवकारमंत्र ही है। इस बीज से रहित मंत्र सारहीन है। इसी बात को उपाध्यायजी म. ने इन शब्दों में कहा है–

जेह निर्बीज ते मंत्र जूठा, फले नहीं साहमुं हुई अपूठा;
जेह महामंत्र नवकार साधे, तेह दोअ लोक अलवे आराधे ।

श्री नवकार महामंत्ररूपी बीज से रहित होनेवाले सभी मंत्र झूठे हैं, वे फलदायी नहीं होते हैं, बल्कि हानि करानेवाले भी हो सकते हैं। इसीलिए जो आत्माएँ श्री नवकार महामंत्र की आराधना करती हैं, वे इहलोक और परलोक दोनों को सफल बना देती हैं।

श्री नवकारमंत्र के विशेष गुणों का वर्णन करते हुए अंत में वे कहते हैं–

रतन तणी जेम पेटी, भार अल्प बहुमूल्य,
चौद पूरवनुं सार छे, मंत्र ए तेहने तुल्य;
सकल समय अभ्यंतर, ए पद पंच प्रमाण,
महसुहखंध ते जाणो, चूला सहित सुजाण ।

अर्थात् जैसे रत्नों से भरे हुए संदूक का वजन कम होता है, लेकिन मूल्य बहुत अधिक होता है, वैसे श्री नवकार मंत्र शब्दों की दृष्टि से संक्षिप्त है, लेकिन अर्थ की दृष्टि से अनंत है, चौदह पूर्वों का सार है, सभी सिद्धातों में ये पाँच पद प्रमाणभूत माने गए हैं। चूलिका सहित समस्त नवकार मंत्र का महाश्रुतस्कंध के रूप में वर्णन किया गया है। श्री नवकार को छोड़कर अन्य शास्त्रों को महाश्रतुस्कंध नहीं,बल्कि सिर्फ श्रुतस्कंध के रूप में बताया गया है।

श्री नवकारमंत्र की उत्पत्ति

श्री नवकारमंत्र शब्दात्मक है और शब्द द्रव्य के रूप में नित्य होते हुए भी पर्याय के रूप में अनित्य है। इसलिए श्री नवकारमंत्र को द्रव्य रूप में नित्य और पर्याय रूप में अनित्य मानना चाहिए। द्रव्यभाषा पुद्गलात्मक है और पुद्गल के पर्याय अनित्य होने से भाषा के द्रव्य भी अनित्य है। लेकिन भावभाषा आत्मा के क्षयोपशमरूप होने से आत्मद्रव्य की तरह नित्य है।

यहाँ यह समझ लेना याहिए कि श्री जैन दर्शन में माना गया कोई भी नित्य पदार्थ कूटस्थ नित्य नहीं, बल्कि परिणामी नित्य है। इसलिए आत्मद्रव्य भी परिणामी नित्य है। भावभाषा भी आत्मगुणरूप होने से वह भी परिणामी नित्य है।

श्री नवकारमंत्र द्रव्य और भाव दोनों रूपों में शाश्वत है। अथवा नवकारमंत्र शब्द और अर्थ से नित्य है यह जो कहा जाता है, उसके पीछे अनेक अपेक्षाएँ होती हैं। जैन शास्त्रकार श्री नमस्कार मंत्र को सर्वसंग्राही नैगमनय से शाश्वत और अनुत्पन्न मानते हैं। विशेषग्राही नैगम, ऋजुसूत्र या शब्द नयों की दृष्टि से श्री नमस्कार मंत्र उत्पन्न भी है। इस बात को स्पष्ट रूप से समझने के लिए नैगमादि का स्वरूप भी संक्षेप में समझ लेना चाहिए।

किसी भी वस्तु का ज्ञान दो प्रकार से होता है–प्रमाणद्वारा और नयद्वारा। मनुष्य को मनुष्य के रूप में भी पहचाना जा सकता है और

उसी मनुष्य को एक जैन या ब्राह्मण या अन्य किसी तरह से भी पहचाना सकते हैं । इसमें मनुष्य को मनुष्य के रूप में पहचानना यह प्रमाणज्ञान है, और उसे जैन या ब्राह्मण आदि रूप में पहचानना यह नयज्ञान है । प्रमाण वस्तु को पूर्ण रूप से ग्रहण करता है तो नय उसी वस्तु को एक आदि अंश को ग्रहण करता है । प्रमाणज्ञान किसी भी इंद्रिय या मन द्वारा हो सकता है तो नयज्ञान सिर्फ मन द्वारा ही हो सकता है ।

नय न प्रमाण है, न अप्रमाण है, बल्कि वह प्रमाण का ही एक अंश है । जैसे, समुद्र के पानी की बुंद समुद्र नहीं है और समुद्र के बाहर भी नहीं है, बल्कि वह समुद्र का एक अंश है । इसका कारण यह है कि एक बुंद को ही समुद्र माना जाए, तो बाकि बुंदे असमुद्र बन जाती हैं और प्रत्येक बुंद को ही समुद्र मान लिया जाए, तो एक ही समुद्र करोड़ों समुद्र बन जाएगा । इसलिए समुद्र की एक बुंद को समुद्र या असमुद्र कहने के स्थान पर समुद्र का एक अंश कहना उचित है ।

वस्तु को पूर्ण रूप से इंद्रियग्राह्य करने वाला ज्ञान प्रमाण है और अंश रूप में इंद्रिय ग्राह्य मानने वाला ज्ञान नय है । इस आधार पर वाक्य के भी दो भेद हो जाते हैं । एक प्रमाणवाक्य और दूसरा नयवाक्य । प्रमाणवाक्य और नयवाक्य के बीच होनेवाला अंतर सिर्फ शब्दों से नहीं, बल्ति भावों के अभिप्राय से समझा जा सकता है । एक ही शब्द से जब संपूर्ण वस्तु का कथन किया जाता है, तब वह सकलादेश और प्रमाणवाक्य बन जाता है, लेकिन उसी शब्द से जब वस्तु का एक ही धर्म बताया जाता है तो वह विकलादेश और नयवाक्य बन जाता है ।

प्रत्येक शब्द से वस्तु के एक ही धर्म का कथन किया जा सकता है, लेकिन इस एक धर्म द्वारा अनेक धर्मोंवाले धर्मी का बोध कराना प्रमाण का विषय है और उसके एक ही धर्म का बोध कराना नय का विषय है । जब **जीव** शब्द से जीव के जीवनधर्म का बोध कराने का प्रयोजन हो, वहाँ वह विकलादेश बन जाता है और जीवनधर्म के अतिरिक्त

जानना, देखना आदि अनेक धर्मयुक्त जीव पदार्थ का बोध कराने का प्रयोजन हो, वहाँ वह सकलादेश बन जाता है ।

यहाँ यह प्रश्न संभव है कि जब कोई वस्तु अनेक धर्मात्मक होती है और नय वस्तु के एक ही धर्म को ग्रहण करता है, तो ऐसे अधूरे ज्ञान को सम्यग्ज्ञान कैसे कह सकते हैं ? इसका उत्तर यह है कि वस्तु के एक अंश का भी ज्ञान जब अन्य अंशों को निषेध करने वाला न हो, तो उसे सम्यग्ज्ञान कहने में कोई हर्ज नहीं है । अंशज्ञान शेष अंशों का निषेध करने वाला हो, तभी उसे मिथ्या ज्ञान कह सकते हैं । इसे शास्त्रों में **नयाभास** अथवा **मिथ्यानय** कहा जाता है ।

नयवाद

अनेक धर्मात्मक वस्तु को, उसके अन्य धर्मों का निषेध किए बिना एक धर्म से जानना या कथन करना नयज्ञान या नयवाद कहलाता है । वस्तु के मूल धर्म दो होते हैं–द्रव्य और पर्याय । इस कारण मूल नय भी दो हैं–एक द्रव्यार्थिक और दूसरा पर्यायार्थिक । इन दो मूल नयों के उपभेद सात भी हो सकते है और सात सौ भी हो सकते हैं । अथवा जानने या कथन करने के जितने प्रकार उतने नय के उपभेद हो सकते हैं । फिर भी नय को स्पष्ट रूप में समझने के लिए शास्त्रोंकारों ने सभी नयों के मुख्य सात भेद किए हैं । इनके नाम हैं–नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ़ और एवंभूत ।

यहाँ एक बात का समाधान कर लेना आवश्यक है कि किसी वस्तु को एक साथ अनेक धर्मात्मक न माना जाए तो क्या हर्ज है ? यह प्रश्न उपस्थित होना सहज संभव है । लेकिन द्रव्य और पर्याय उभयात्मक वस्तु के स्वरूप को समझने वाले के लिए इसका समाधान उतना ही सहज है । वस्तु द्रव्य और पर्याय उभय धर्मयुक्त होती है और वस्तु के त्रिकालवर्ती पर्याय अनंत हो सकते हैं । एक ही काल में एक ही वस्तु पर्यायों वाली हो सकती है । एक ही आम रूप, रस, गंध, स्पर्श आदि सहभावी अर्थात् युगपद्भावी पर्यायें हैं । और नया पुराना आदि क्रमभावी अर्थात् अयुगपद्भावी पर्यायें हैं ।

इस प्रकार एक ही वस्तु की स्व–परकृत, अपेक्षाकृत, संबन्धकृत, शब्दकृत और अर्थकृत पर्यायें अनेक हैं। इस प्रकार हर वस्तु में एकसाथ अनेकधर्मात्मकता सिद्ध होती है और उसकी त्रिकालवर्ती पर्यायें अनंतानंत बनती हैं।

ऐसी अनंतानंत धर्मात्मक वस्तु का किसी भी एक धर्म से कथन करना वचनात्मक नय है और उसे एक धर्म से जानना ज्ञानात्मक नय है। ज्ञानात्मक नय को भावनय भी कहते है, तो वचनात्मक नय को द्रव्यनय कहते हैं। द्रव्यनय औपचारिक है और भावनय तात्त्विक है।

द्रव्यार्थिक नय सामान्य को विषय बनाता है, तो पर्यायार्थिक नय विशेष को विषय बनाता है। प्रत्येक वस्तु सामान्य और विशेष दो प्रकार की होती है, इसलिए नयज्ञान के भी दो भेद होते हैं।

नैगम नय

संकल्प मात्र को विषय बनाने वाला नय नैगन नय कहलाता है। **'निगम'** शब्द का अर्थ संकल्प भी होता है। इसीलिए संकल्प को विषय बनाने वाले नय को नैगम शब्द से संबोधित किया जाता है। इस नैगम के तीन भेद हैं–भूत नैगम, भावी नैगम और वर्तमान नैगम। अतीत काल में वर्तमान काल का संकल्प करना भूत नैगम है। जैसे–`**आज वीर परमात्मा का जन्मदिन है'।** यहाँ **'आज'** शब्द का अर्थ वर्तमान दिवस होते हुए भी इसका संकल्प ढाई हजार से अधिक वर्ष पहले चैत्र सदी त्रयोदशी में किया गया है, इसलिए यह **भूतनैगम** कहलाता है।

भविष्य काल में वर्तमान काल या भूतकाल का संकल्प करना भावी या भविष्य नैगम है। राजकुमार को राजा कहना यह भविष्य काल में होनेवाले का वर्तमान में संकल्प है और भूतकाल में हुए अरिहंत को सिद्ध कहना यह भूतकाल का भविष्य काल में संकल्प है।

कोई कार्य प्रारंभ किया गया है, लेकिन उसके पूर्ण होने से पहले उसे **'पूर्ण हुआ'** कहना यह वर्तमान नैगम है। जैसे–रसोई के प्रारंभ में ही कहना कि **'आज हलवा (कंसार) बनाया है।'**

'निगम' शब्द की व्युत्पत्ति अन्य भी अनेक रीतियों से की जाती है ।

''निगम्यन्ते परिच्छिद्यन्ते इति निगमाः, लौकिका अर्थाः। तेषु निगमेषु भवो योऽध्यवसायः ज्ञानाख्यः, स नैगमः । यथा लोको व्यवहरति तथानेन व्यवहर्तव्यम् । लोकश्चोपदिष्टैः प्रकारैः समस्तैर्व्यवहरति ।''

निगम यानी जानने योग्य लौकिक पदार्थ/वस्तुएँ । उनके संबंध में ज्ञानरूप अध्यवसाय यानी नैगम । लोक जिस प्रकार से व्यवहार करते हैं, उसी रीति से व्यवहार करना यह नैगमनय का कार्य है । उपदेशानुसार ही लोग व्यवहार करते हैं, इसलिए नैगम भी उसी प्रकार से व्यवहार करता है ।

अथवा

''निगमेषु येऽभिहिताः शब्दाः तेषामर्थः शब्दार्थपरिज्ञानं च देशसमग्रगाही नैगमः ।'' निगम, यानी जनपदों या देशों में जो प्रचारित हो गया है, वह नैगम है । अर्थात् भिन्न–भिन्न देशों में प्रयुक्त भिन्न–भिन्न घट आदि शब्द नैगम हैं । इन घट आदि शब्दों के अर्थों का ज्ञान अथवा जलधारण करने में समर्थ अर्थ का वाचक घटादि शब्द है, यह ज्ञान नैगमनय है ।

अथवा

''नैके गमाः बोधमार्गा यस्याऽसौ नैगमः ।''

जिसके बोध मार्ग एक नहीं, बल्कि अनेक हैं, वह नैगम है ।

'श्री प्रमाणनयतत्त्वालोकालंकार' में **श्री वादिदेवसूरिजी** महाराज बताते हैं–

''धर्मयोर्धर्मिणोर्धर्मधर्मिणोश्च प्रधानोपसर्जनभावेन यद्विवक्षणं स नैकगमो नैगमः ।'' –धर्म यानी पर्याय, धर्मी यानी द्रव्य और धर्मधर्मी यानी द्रव्य और पर्याय । दो पर्याय, दो द्रव्य अथवा एक द्रव्य और पर्याय का गौण–मुख्य भाव से कथन करना नैगम है ।

नैगमनय धर्म और धर्मी दोनों को ग्रहण करता है । प्रमाण–ज्ञान भी धर्म और धर्मी दोनों को ग्रहण करता है । लेकिन दोनों में अंतर यह

है कि प्रमाण धर्म और धर्मी दोनों को मुख्य रूप से ग्रहण करता है, तो नैगमनय दो में से एक को मुख्य और दूसरे को गौण बनाकर ग्रहण करता है।

इन सभी व्युत्पत्तियों का तात्पर्य यही है कि शब्दों के जैसे और जितने अर्थ लोक में माने जाते हैं, उन सबको स्वीकार करना यह नैगमनय की दृष्टि है। इसलिए उसका विषय बाद में आने वाले सभी अन्य नयों से बड़ा है। नैगमनय सामान्य और विशेष दोनों को प्रधानता देता है। जब सामान्य की प्रधानता होती है तब उसे समग्रग्राही कहते हैं, और विशेष की प्रधानता होती है, तब उसे देशग्राही कहा जाता है।

इस प्रकार नैगमनय लोक में होनेवाला जीवाजीवादि अनेक पदार्थों के जानने के अनेक प्रकारों में कुशल है। अन्य नयों के लिए वस्तु को जानने का प्रकार एक नहीं, अनेक हैं। यही अन्य नयों ओर नैगमनय के बीच अंतर है।

'नैगमनय में वस्तु का ज्ञान प्राप्त करने का प्रकार एक नहीं, बल्कि अनेक हैं', यह तथ्य स्पष्ट करने के लिए शास्त्रकार निम्नलिखित तीन प्रसिद्ध दृष्टान्त देते हैं–

निलयन का उदाहरण

किसी ने प्रश्न किया–`**आप कहाँ रहते हैं?**' इस प्रश्न के उत्तर में कहना–**''मैं लोक में रहता हूँ।''**

फिर प्रश्न किया, लोक में कहाँ? तो कहना–तिर्च्छा लोक में, इस प्रकार प्रतिप्रश्न का उत्तर देना नैगमनय को मान्य है।

''तिर्च्छा लोक में कहाँ?''

'मनुष्य क्षेत्र में' –उसमें जंबूद्वीप में, भरत क्षेत्र में, मध्यखंड में, पाटलिपूत्र नगर में, अमुक गली में, अमुक मकान में, अमुक कमरे में, अमुक शय्या पर, अमुक आकाश प्रदेश में और अंत में जहाँ मेरी आत्मा है, वहाँ रहता हूँ। ये सभी प्रकार नैगमनय को वस्तु का ज्ञान कराने में स्वीकार्य हैं।

'प्रस्थक' का उदारहण

लकड़ी से बने हुए अनाज मापने के माप को **प्रस्थक** कहते हैं। इसलिए जंगल में लकड़ी काटनेवाला कहता है कि **'मैं'** प्रस्थक **'काटता हूँ।'** इसी तरह मार्ग में कंधे पर चढ़ाई हुई लकड़ी को, इस लकड़ी को चीरते समय, मठते समय. छीलते समय, मुलायम बनाते समय और अंत में अनाज नापने के लिए तैयार होने के बाद और धान्य मापते समय भी **''यह प्रस्थक है''** कहना नैगमनय को मान्य है।

'ग्राम' का उदारहण

सीमा तक की भूमि, किल्ले तक का भाग, सिर्फ प्रजा का समूह, प्रजा का कोई विशिष्ट पुरुष इन सभी प्रकारों में **'नैगमनय' 'ग्राम'** कह कर व्यवहार करता है। अर्थात् **'नैगमनय'** इन सबको **'ग्राम'** के रूप में स्वीकार करता है।

किसी वस्तु को जानने के अनेक प्रकार होते हुए भी नैगमनय एकांशग्राही है, प्रमाण की तरह वह सर्वांशग्राही नहीं है। इसका कारण ऊपर बताया गया है, फिर भी उसकी अधिक स्पष्टता के लिए अधिक विस्तार में उतरने की आवश्यकता है।

वस्तु–परिच्छेद करने के लिए नैगमनय के अनेक प्रकार हैं, लेकिन उसके तीन मुख्य भेद होते हैं–सामान्यवादी नैगमनय, सामन्य–विशेषवादी नैगमनय, और विशेषवादी नैगमनय। इनमें से पहला भेद निर्विकल्प महासत्ता नाम का है और वह अशुद्ध है। दूसरा भेद पशुत्व, गौत्व, गजत्वादि सामान्य विशेषवादी का शुद्धाशुद्ध है। तीसरा भेद विशेषवादी और सर्वथा विशुद्ध है।

नैगमनय सामान्य और विशेष दोनों को मानता है, लेकिन दोनों को परस्पर भिन्न मानता है। कारण यह है कि **'सामान्य'** यानी **सत्'।** **'सत्'** यही सामान्य के ज्ञान का और सामान्य के वचन का हेतु होने से वह विशेष से सर्वथा भिन्न है। उसी प्रकार **'विशेष'** यह **'विशेष'** बुद्धि और वचन का हेतु होने से सामान्य से सर्वथा भिन्न है। सामान्य और

विशेष का कार्य इस प्रकार भिन्न–भिन्न होने से भिन्न-भिन्न कार्य वाले घट, पट आदि की तरह वे अत्यंत भिन्न हैं ।

सामान्य–विशेष जैसे परस्पर भिन्न हैं, वैसे सामान्य–विशेष के आश्रयभूत गाय, परमाणु आदि द्रव्यों से भी सामान्य–विशेष भिन्न हैं ।

'द्रव्यगुणकर्मसु सत्ता ।'

यह वचन सिद्ध करता है कि परस्पर विलक्षण द्रव्य, गुण और कर्मों में जो सत्य की बुद्धि होती है, उसका कारण इन तीनों में रहने वाली सत्ता का संबन्ध है । यह सत्ता सामान्य यदि द्रव्यादि से अभिन्न हो, तो परस्पर भिन्नता के कारण सर्वत्र द्रव्यादि में **'सत्'** ऐसी अभिन्न प्रतीति नहीं होनी चाहिए । भिन्न पदोर्थों से भी यदि अभिन्न बुद्धि उत्पन्न हो सकती है, तो घट, पट, स्तंभ आदि से भी ऐसी अभिन्नता यानी एकता की बुद्धि उत्पन्न होनी चाहिए । लेकिन यह तो अनुभव विरूद्ध है । भिन्न पदार्थों में अभिन्न बुद्धि अवश्य उत्पन्न होती है, इस अभिन्न बुद्धि का कोई–न–कोई कारण अवश्य मानना चाहिए और वह कारण **'सत्'** की बुद्धि कराने वाले सामान्य के अलावा अन्य कोई नहीं है । इसलिए वह द्रव्यादि तीनों से भिन्न है ।

इसी प्रकार पशुत्व, गोत्व, गजत्व आदि सामान्य, सामान्य–विशेष उभयात्मक हैं, क्योंकि वे अपने आश्रय पशु, गाय, गज आदि में अनुगताकार की बुद्धि कराते हैं और मनुष्य, अश्व, भैंस आदि से भेद कराते हैं । वे अवांतर सामान्य अर्थात् सामान्य–विशेष भी अपने आश्रयभूत द्रव्यों से सर्वथा भिन्न हैं ।

सामान्य–विशेष दोनों को मानते हुए भी उन दोनों को परस्पर अत्यंत भिन्न और अपने आधार से भी अलग मानने से नैगमनय एकांशग्राही सिद्ध होता है । उससे सर्वांशग्राही प्रमाण का विषय और उसका विषय एक नहीं बन सकता हैं । इतना ही नहीं, बल्कि शेष अंगो का तिरस्कार करते जाएँ तो वही नैगमनय नैगम नयाभास बन जाता है, यहाँ तक कि सम्यग्ज्ञान न रहकर मिथ्याज्ञान बन जाता है ।

सामान्य और विशेष को परस्पर निरपेक्ष मानने से सामान्य को

विशेषता और विशेष को सामान्यता प्राप्त हो जाती है और उससे **'द्रव्यगुणकर्मसु सामान्यम्'** यह वचन असत्य सिद्ध हो जाता है ।

'अयं गौः।' 'अयं गौः।' आदि कथन सामान्य की बुद्धि और सामान्य के वचन का हेतु होने से वह सामान्य कहलाता है तो **'अयं विशेषः।' 'अयं विशेषः।'** आदि कथन सामान्य की बुद्धि और सामान्य वचन का हेतु होने से विशेष भी सामान्य कहलाएगा । लेकिन ऐसा मानने से सामान्य की वृत्ति द्रव्यगुण कर्म में ही है, लेकिन विशेष में सामान्य नहीं होता है, यह मत टिक नहीं सकता है ।

फिर **'सत्तासामान्य'** भी गौत्वादि **'अवांतर सामान्य'** से बुद्धि और वचन में अंतर करता है और **'अवांतर सामान्य गोत्वादि'** भी **'सत्तासामान्य'** से बुद्धि और वचन में अंतर करते है । इसलिए **'सत्तासामान्य'** और **'अवांतरसामान्य'** भी भेदक–विशेषक–बनने से विशेष बन जाते हैं ।

इन दो दोषों के बाद तीसरा दोष यह आता है कि गौत्व, गजत्व आदि **'अवांतर सामान्य'** को भी **'सामान्य'** की प्राप्ति होगी । इसका कारण यह है कि **'इदं सामान्यं ।' 'इदं सामान्यं'** ऐसी बुद्धि और वचन की उसमें प्रवृत्ति होती है । इससे **'सामान्यं सामान्य-रहितम्'** यह सिद्धान्त भी बाधित होता है ।

इस प्रकार विशेष को सामान्यता प्राप्त होने से, सामान्य भी अन्त्यविशेष की तरह भेदक बन जाने से और सामान्य को भी सामान्यता प्राप्त होने से, सामान्य–विशेष परस्पर अथवा उनके आश्रयभूत द्रव्यों से सर्वथा भिन्न हैं यह मत अनायास असत्य सिद्ध होता है ।

यहाँ विशेष पदार्थ संबन्धी नैगमनय की मान्यता क्या है, यह भी देख लेना प्रस्तुत है । सभी परमाणु समान आकार, गुण और क्रियावाले हैं, फिर भी उन परमाणु द्रव्यों में योगी पुरुषों को जो अन्यत्वबुद्धि होती है, उसका कारण अन्त्यविशेष है और यह अन्त्यविशेष ही समान गुण, क्रिया और आकृतिवाले परमाणुओं में असमान बुद्धि का हेतु होने से

अणुओं से सर्वथा भिन्न है । सभी पार्थिव परमाणुओं का आकार परिमंडल है, सबकी प्रथम क्रिया अदृष्ट द्वारा ही होती है और एक ही प्रदेश में होने वाली आने–जाने की क्रिया सबकी समान होती है ।

सत्ता यानी सामान्य, उसे एक स्वतंत्र पदार्थ मानकर इस सत्ता के समवाय से पदार्थों को सत् मानने से अन्य भी अनेक दोष आते हैं । उनमें से कुछ दोषों पर यहाँ दृष्टि डालते हैं ।

पहला दोष : सत्ता के योग से सत्पना प्राप्त होता है, तो वह सत्पना स्वरूप में विद्यमान पदार्थ का प्राप्त होता है या अविद्यमान पदार्थ का प्राप्त होता है ?

यदि अविद्यमान पदार्थ का प्राप्त होता हो तो अविद्यमान होने वाले आकाशकुसुम को भी सत्पना प्राप्त होगा । यदि वह विद्यमान पदार्थ का माना जाता है तो स्वरूप से विद्यमान को अन्य किसी सत्ता की क्या आवश्यकता है ? अर्थात् सत्ता को माने बिना ही वस्तु का सत्पना हो तो **'सत्ता'** को मानने की कोई आवश्यकता नहीं रहती है ।

दूसरा दोष : सत्तासामान्य को एक, नित्य, निरवयव, निष्क्रिय और सर्वगतत्व आदि धर्मों से युक्त माना जाता है और हर एक वस्तु में विद्यमान है ऐसा भी माना जाता है, इससे नीचे लिखे दोष खड़े होते हैं–

(क) यदि **'सत्तासामान्य'** प्रत्येक वस्तु में हो तो प्रत्येक वस्तुस्वरूप होने से उसे एक नहीं कहा जा सकता ।

(ख) अनेक द्रव्यों में होने पर वह एक ही है, ऐसा कहा जाए, तो उसे सावयवता प्राप्त होगी । निरवयवी की वृत्ति अनेक द्रव्यों में परमाणु की तरह नहीं हो सकती है ।

(ग) सावयव माना जाए, तो उसे सामान्य नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि अवयव का भेद होने से उससे अभिन्न अवयवी का भी भेद होता है । फिर भी–

(घ) सामान्य प्रत्येक वस्तु में होता है और एक होता है, ऐसा कहा जाए, तो वह प्रत्येक वस्तु से भिन्न न जान पड़ने से **'गधे के सींग'** के समान असत् है । इतना ही नहीं, बल्कि–

(ङ) जो आकाश की तरह सर्वगत और वस्तु से सर्वथा भिन्न हो तो वह किसी का भी उपलक्षण नहीं बन सकता है ।

तीसरा दोष : सामान्य–विशेषयुक्त ज्ञान और वचन सामान्य–विशेष से होता है या सामान्य और विशेषयुक्त पदार्थ से होता है ? यदि वह सामान्य और विशेष से ही होता हो तो ऊपर कहा गया है, वैसे सामान्य में भी अन्यसामानय और विशेष में भी अन्यविशेष की प्राप्ति होती है : जैसे गोत्व, गजत्व आदि । सामान्य में भी **'इदं सामान्यं' 'इदं सामान्यं'** आदि ज्ञान और वचन तथा विशेष में भी **'अयं विशेषः' 'अयं विशेषः'** ऐसा ज्ञान और वचन होता है ।

इस दोष का निवारण करने के लिए सामान्य–विशेष के सिवाय उसके विषयभूत पदार्थों से ही सामान्य–विशेष का ज्ञान और वचन होता है, ऐसा कहा जाए तो वह सामान्य–विशेष निमित्तक नहीं हुआ, बल्कि **'परनिमित्तक'** अर्थात् पदार्थ निमित्तक हुआ । इससे यह नियम नहीं रहा कि **'सामान्य–विशेष की प्रतीति सामान्य–विशेष विषयक ज्ञान और वचन से ही होती है ।'** बल्कि यह निश्चित हुआ कि उनके आश्रयभूत पदार्थों से भी सामान्य–विशेष की बुद्धि और वचन होता है ।

इस प्रकार एकान्त निरपेक्ष सामान्य–विशेष मानने से अनेक दूषण आते है । तत्त्वतः वस्तु स्वरूप ऐसा है कि–गाय आदि के लिए खुर, कंधा, पूँछ, सींग, गलकंबल रूप जो सदृश पर्यायें हैं वे ही सामान्य हैं और इसी गाय आदि के श्यामता, श्वेतता आदि विसदृश पर्याय ही विशेष है । ये सामान्य–विशेष रूप पर्याय गाय आदि से भिन्नाभिन्न हैं, लेकिन एकदम भिन्न या अभिन्न नहीं हैं । इससे एक, नित्य निरवयव, निष्क्रिय, सर्वगतत्व धर्म से युक्त **'सामान्य'** और सिर्फ विशेषक **'अन्त्य विषय'** निर्विषय होने से आकाशकुसुम की तरह असत् है, यह बात सिद्ध होती है ।

यहाँ यह बात समझ लेनी चाहिए कि प्रत्येक वस्तु अनंतधर्मात्मक होने से और नय वस्तु के अंश को बताने वाला होने से नय भी अनंत हैं,

तो सर्वसंग्राही सत्ता को विषय बनाने वाले संग्रहनय के अभिप्राय से इन अनंत नयों को सात नयों में संग्रहित किया जाता है । इसलिए ये सात नय भी सभी अभिप्रयों का संग्रह करनेवाले बन जाते हैं । अभिप्राय दो प्रकार से व्यक्त होता है–अर्थद्वारा और शब्दद्वारा । इन दोनों को छोड़कर अभिप्राय व्यक्त करने की अन्य कोई तीसरी रीति नहीं है ।

अर्थ के दो प्रकार हैं–1. सामान्यरूप 2. विशेषरूप । शब्द भी दो प्रकार के होते हैं–1. रूढ़ि से होनेवाले, 2. व्युत्पत्ति से होनेवाले । व्युत्पत्ति भी दो प्रकार की होती है–1. सामान्य निमित्तप्रयुक्त, 2. तत्कालभावी निमित्तप्रयुक्त । उसमें अर्थनिरूपण में तत्पर अभिप्राय है, उनका नैगम संग्रह, व्यवहार और ऋजुसूत्र इन चार नयों में समावेश होता है ।

• **नैगम नय :–** सामान्य–विशेष उभय रूप से अर्थ की इच्छा रखता है, लेकिन वह यह भी मानता है कि ये दोनों अर्थ परस्पर सर्वथा भिन्न होते हैं ।

• **संग्रहनय :–** सिर्फ सामान्य अर्थ की इच्छा रखता है ।

• शास्त्रीय सामान्य–विशेष की अपेक्षा रखे बिना सिर्फ लोकव्यवहार में आनेवाले घट–पट आदि पदार्थों की इच्छा रखने वाला **व्यवहारनय** है ।

• सिर्फ क्षणक्षयी–परमाणुलक्षण–स्वलक्षण को माननेवाला **ऋजुसूत्रनय** है ।

• **शब्दनय :–** रूढ़ी से शब्दों की प्रवृत्ति की इच्छा रखता है ।

• व्युत्पत्ति से शब्दों की प्रवृत्ति की इच्छा रखनेवाला **समभिरूढ़नय** है ।

• जो सिर्फ वर्तमानकाल–भावी व्युत्पत्ति निमित्त को उद्देश्य कर ही शब्दों की प्रवृत्ति की इच्छा रखता है, वह **एवंभूतनय** है ।

इससे सिद्ध होता है कि वस्तुविषयक कोई भी ऐसा विकल्प या अभिप्राय बाकी नहीं रह जाता, जिसका इन सात नयों के भीतर अंतर्भाव न हो सके । इसलिए इन सात नयों को सभी अभिप्रायों का संग्रह करनेवाला माना जाता है ।

संग्रह नय

हमने नैगमनय का स्वरूप विस्तार से देखा, वैसे ही संग्रहनय आदि अन्य नयों की मान्यता भी देख लेनी चाहिए। **'एक'** शब्द से द्वारा **'अनेक'** पदार्थो का ग्रहण करना संग्रहनय है। जैसे, **'जीव'** शब्द कहने से सभी प्रकार के त्रस–स्थावर जीवों को ग्रहण करना। इस संग्रहनय के दो भेद हैं–१. पर,२. अपर।

'पर संग्रह' को सामान्य और **'अपर संग्रह'** को विशेष भी कह सकते हैं। सभी द्रव्यों को ग्रहण करनेवाला नय **'सामान्य'** और अपर संग्रह को **'विशेष'** भी कह सकते है। सभी द्रव्यों को ग्रहण करनेवाला नय **'सामान्य संग्रहनय'** है। जैसे, **'द्रव्य'** शब्द से जीव, अजीव सब का संग्रह हो जाता है। थोड़े द्रव्यों का संग्रह करने वाले नय को **'विशेषसंग्रहनय'** कहते है। जैसे, **'जीव'** शब्द कहने से सभी **'जीवद्रव्यों'** का संग्रह तो हो जाता है, लेकिन **'अजीव द्रव्य'** बाकी रह जाता हैं। इसलिए यह **'विशेष संग्रह'** कहलाता है।

संग्रहनय सिर्फ **'सामान्य'** को मानता है। उसके अनुसार सामान्यरहित विशेषों का आकाशकुसुमवत् अभाव है। **'सत्'** कहने से त्रिभुवन के अंतर्गत सभी वस्तु की प्रतीति होती है। विश्व में कोई ऐसी वस्तु नहीं है, जो **'सत्'** कहने से बुद्धि में प्रतीत न होती हो। इसलिए सत्ता के अतिरिक्त दूसरा कुछ भी नहीं है।

'सामान्य' के पर और अपर जो दो भेद होते हैं, उनमें अपर सामान्य अनुगम और व्यतिरेक दोनों रूपों में होता है। परत्व का निषेध करने वाले विशेष का प्रतिपादन **'व्यतिरेक'** है। संक्षेप में संग्रहनय सभी वस्तुओं को सामान्य रूप से इकट्ठा करता है, अथवा संग्रहनय से सभी भेदों का सामान्य रूप में संग्रह होता है, अथवा संग्रह और पींडितार्थयुक्त वचन संग्रहनय है। संग्रह यानी सामान्याभिमुखता से ग्रहण किया गया और पींडित यानी एकजातित्व से प्राप्त। अथवा सत्तारूप महासामान्य संग्रह है और गोत्वादि अवांतरसामान्य पींडित है। संग्रहनय की दृष्टि में

'सामान्य' एक, नित्य, निरवयव, अक्रिय और सर्वगत है। सर्वत्र होने से एक है , अविनाशी होने से नित्य है, देशविरहित होने से निरवयव है, देशांतरगतिशून्य होने से अक्रिय है और अक्रिय होने से सर्वगत है।

व्यवहार नय

संग्रहनय से ग्रहण किए हुए पदार्थों का भेदक। योग्य रीति से भेद करनेवाला व्यवहारनय है। इसके भी दो भेद होते हैं–सामान्यभेदक और विशेषभेदक। सामान्य संग्रह में भेद करनेवाला सामान्यभेदक व्यवहार है। जैसे–द्रव्य के दो भेद हैं–जीव, अजीव। विशेष संग्रह में भेद करनेवाला विशेषभेदक व्यवहार है। जैसे–जीव के दो भेद हैं–संसारी और मुक्त।

इस प्रकार **'व्यवहार'** सामान्य का तिरस्कार करता है, इसीलिए उसे व्यवहार कहते हैं। अथवा लोग विशेषतः व्यवहार में ही तत्पर होते हैं, उसे विषय बनानेवाला होने से यह नय **'व्यवहार'** कहलाता है। इस नय के अनुसार **'सत्'** विशेष से अलग नहीं है, क्योंकि **'सत्'** शब्द से व्यवहार करने योग्य विशेषों का ही ग्रहण होता है। विशेषों से भिन्न सामान्य की उपलब्धि नहीं होती। इसलिए सामान्य यह आकाशकुसुम की तरह असत् है। इस नय का यही मत है। घट–पट आदि विशेष सबके लिए प्रत्यक्ष होते हैं, तथा पानी भरना जैसे लोकव्यवहार भी विशेष द्वारा ही होते हैं। यह नय वय्वहार को ही मुख्य मानता है, अतः भ्रमर पाँच वर्णो से युक्त होने पर और उसमें काला वर्ण स्पष्ट होने पर भी वह भ्रमर को सिर्फ काले वर्णवाला ही मानता है।

ऋजुसूत्र नय

ऋजु यानी अवक्र अर्थात् सरल, अर्थात् वस्तु को अवक्र रूप में सरलता से बतानेवाला नय ऋजुसूत्रनय है। अवक्र का अर्थ यहाँ **'प्रत्युत्पन्न'** (वर्तमानकालीन) और **'स्वकीय'** यानी अपना इतना ही अभिप्रेत है। वर्तमानकालीन स्वकीय वस्तु ही इस नय का विषय है। अतीत वस्तु नष्ट हो गई है, अनागत वस्तु उत्पन्न नहीं हुई है और परकीय

वस्तु परधन की तरह उपयोग में आने वाली न होने से निष्प्रयोजन है। इसलिए इन तीनों प्रकारों की वस्तुओं को यह नय **'असत्'** या **'अवस्तु'** मानता है। इसका कहना है कि यदि संव्यवहारोप–लब्धिरहित होने से सामान्य को असत् माना जाता हो, तो अतीत, अनागत और परकीय भी अनुपयोगी होने से उसे भी **'असत्'** ही मानना चाहिए।

वस्तु की वर्तमानकालीन स्वकीय पर्याय ही सत् है। इसके दो भेद हैं–1. सूक्ष्म, 2. स्थूल। सूक्ष्म ऋजुसूत्रनय समय मात्र की वर्तमान पर्याय को ही ग्रहण करता है और उसे ही स्वीकार करता है। जैसे–क्षणक्षयी (क्षण में ही नष्ट होनेवाला) पदार्थ। स्थूल ऋजुसूत्रनय अनेक समय के वर्तमान पदार्थों को ग्रहण करता है और उन्हें स्वीकार करता है। जैसे–सौ वर्षों का मनुष्यपर्याय। इस प्रकार ऋजुसूत्रनय स्थूल, सूक्ष्म, सांप्रत (वर्तमान) कालीन नाम–स्थापनादियुक्त स्वकीय वस्तु को ही वस्तु के रूप में स्वीकार करता है।

अब तक के चार नय अर्थनय हैं और इसके बाद आने वाले तीन नय शब्दनय हैं। ये सातों नय ज्ञानात्मक और शब्दात्मक हैं। परार्थप्रतिपादन में शब्दात्मक बन जाते है, तो स्वार्थप्रकाशन में ज्ञानात्मक रहते हैं। फिर भी यहाँ बाकी तीन शब्दनय हैं–ऐसा कहा गया है। इसका तात्पर्य यह है कि नैगमादि चार नय अर्थप्रधान हैं, तो शब्दादि तीन नय शब्दप्रधान हैं, यद्यपि सातों नय अर्थ का ही प्रतिपादन करते हैं। नैगमादि नय शब्द के लिंग आदि में परिवर्तन होने से ही अर्थ में परिवर्तन होना नहीं मानते हैं। दूसरी ओर शब्दादि तीन नय शब्द के लिंग आदि में परिवर्तन से अर्थ आदि में भी परिवर्तन होना स्वीकार करते हैं।

शब्द नय

शब्दों में लिंग आदि के भेद से अर्थ में भेद बताने वाला नय शब्दनय है। शब्द में जो लिंग आदि का व्यवहार होता है वह अर्थ की दृष्टि से होता है। अर्थ में जो लिंग होता है, उसके समान लिंग का व्यवहार प्रायः शब्द में भी होता है और इसी लिंग को शब्द का लिंग मान लिया जाता है। इसलिए शब्दनय की यह मान्यता है कि **'जहाँ लिंग**

आदि का भेद होता है, वहाँ अर्थ में भी अवश्य भेद होता है ।' जैसे–पहाड़ और पहाड़ी, नद और नदी, नल और नली आदि । बड़े पर्वत को पहाड़ और छोटे पहाड़ को पहाड़ी कहा जाता है । इसी प्रकार बड़ी नदी को नद और छोटी नदी को नदी कहते है । बड़े नल को नल और छोटे नल को नली कहते हैं । इससे सिद्ध होता है कि लिंगभेद अर्थभेद का कारण होता है । इसी प्रकार संख्या, पुरुष, उपसर्ग, काल, कारक आदि के भेद से अर्थभेद को स्वीकार करने वाला यह नय है ।

वर्तमानकालीन प्रत्युत्पन्न वस्तु को ऋजुसूत्रनय मानता है । इसी को शब्दनय विशेषतर मानता है । इस नय को शब्दनय नाम इसलिए दिया गया है कि यह मुख्यतः शब्द के वाच्यार्थ को ग्रहण करता है । अर्थात् शब्द के वाच्यार्थ को ग्रहण करनेवाले नय को उपचार से शब्दनय कहा जाता है । यह नय शब्द के वाच्यार्थ को ही प्रधान रूप से माननेवाला होने से इसके अनुसार **'घट'** शब्द से सिर्फ **'भाव'** घट का ही ग्रहण होता है । इस नय के अनुसार **'जलाहरणादि'** की क्रिया में जो समर्थ है, वही **'घट'** कहलाएगा । नामादि घट **'जलाहरणादि'** क्रिया में समर्थ नहीं है, अतः वे घट नहीं कहलाएँगे । यदि अतीत, अनुत्पन्न और परकीय इन्हें निष्प्रयोजन होने से घट रूप वस्तु नहीं मानी जाय, तो नाम–स्थापनादि घट भी जलाहरणादि के स्वप्रयोजन में असमर्थ होने से उन्हें भी घट रूप नहीं माना जा सकता । अर्थात् इस नय के मत से **'घट'** शब्द से नामस्थापनादि विरहित सिर्फ **'भावघट'** का ही ग्रहण होता है ।

इसके अतिरिक्त सामान्यतः प्रयुत्पन्न वस्तु को वस्तु के रूप में मानने वाले ऋजुसूत्र नय की तुलना में शब्द उसे **'सप्तभंगी', 'भिन्न लिंग' 'भिन्न वचन'** आदि के द्वारा विशेषतर मानता है । फिर भी **'समभिरूढ़'** नय की तरह शब्द के पर्याय भेद से वस्तु का भेद शब्दनय नहीं मानता है ।

समभिरूढ़ नय

जहाँ शब्द का भेद है, वहाँ अर्थ का भेद अवश्य है, यह माननेवाला नय **'समभिरूढ़ नय'** है । शब्दनय तो अर्थभेद वहाँ पर ही

मानता है, जहाँ लिंग आदि का भेद होता है। लेकिन यह नय तो प्रत्येक शब्द का अर्थ भिन्न–भिन्न मानता है। फिर भले ही वे शब्द पर्यायवाची और उनका लिंग, वचन आदि भी समान क्यों न हों। **'इंद्र'** शब्द से ऐश्वर्य का अनुभव करनेवाला और **'पुरंदर'** शब्द से पुर या नगर को भंग करनेवाला यह बोध होता है। इंद्र और पुरंदर इन दो शब्दों के अर्थ भिन्न–भिन्न हैं। इस प्रकार प्रत्येक शब्द में पृथक् अर्थ बताने का सामर्थ्य होता है, ऐसा यह नय मानता है।

'घट' शब्द से जो अर्थवाच्य है, वही अर्थ कुट, कुंभ, कलश आदि शब्दों से वाच्य नहीं होता है। यदि ऐसा न माना जाए, तो संकर आदि अनेक दोष उत्पन्न हो जाते हैं। यदि एक **'घट'** आदि वस्तु का अन्य **कट (चटाइ)** आदि वस्तु में संक्रमण हो सकता हो, तो घट आदि के अर्थ में पट आदि के अर्थ का भी संक्रमण मानना पड़ेगा। यदि ऐसा मान लिया जाय, तो संशय, विपर्यय, एकता, संकीर्णता आदि अनेक दोषों का समूह उत्पन्न होगा। जैसे, `यह घट है या पट है? जैसे संशय, घट में पट के ही निश्चयरूप विपर्यय, घट, पट आदि पदार्थों का भेदाभाव–एकता, अथवा मेघ और मणि की तरह घट, पटादि के अर्थ की संकीर्णता आदि दोष आकर खड़े होते हैं।

तात्पर्य यह है कि घट, कट, कुंभ आदि शब्दों से वाच्य पदार्थ का परस्पर अभेद मानना ठीक नहीं हैं, बल्कि भेद मानना योग्य है। कारण यह है कि जैसे वाचक शब्द के भेद घट, पट, स्तंभ आदि शब्दों से वाच्य घट, पट, स्तंभ आदि पदार्थ भिन्न हैं, वैसे ही घट, कट, कुंभादि भी वाचक शब्दों के भेद हैं, अतः उनके वाच्य भी भिन्न–भिन्न है।

दूसरी बात यह है कि लिंग, वचन आदि की विभिन्नता से यदि अर्थ की भिन्नता स्वीकार की जाए, तो फिर घट, कट, कुंभ, कलश आदि शब्दों के भेद से वाच्य अर्थों का भेद क्यों न स्वीकार किया जाए? ध्वनि का भेद दोनों में समान है। अथवा एक शब्द में अनेक अर्थों की प्रवृत्ति संभव ही नही हो सकती, ऐसा समभिरूढ़नय का सिद्धान्त है। यह

सिद्धान्त स्वीकर करने का प्रयोजन हम ऊपर देख आए हैं ।

यह नय देश–प्रदेश की भिन्न कल्पना में षष्ठी तत्पुरुष समास नहीं, बल्कि कर्मधारय समास मानता है । उसके मत से धर्मास्तिकाय आदि **'देशी'** ही **'देश'** है । देश, देशी से अत्यंत भिन्न और स्वतंत्र वस्तु नहीं है । यदि देशी और देश को भिन्न माना जाए तो अत्यंत भिन्न विंध्य और सह्य के समान दोनों का संबन्ध कैसे हो सकता है ?

उसी प्रकार यह नय कर्ता से क्रिया को अव्यतिरिक्त मानता है । कुम्हार से कुंभ बनाने की क्रिया भिन्न नहीं है । कर्ता संबंधी क्रिया का संबन्ध कर्ता से व्यतिरिक्त **'घटरूप कर्म'** में भी माना जाए तो परस्पर **'एकतादि'** दोष उत्पन्न होते हैं । इसलिए कर्ता के साथ होनेवाली क्रिया का संबन्ध कर्ता के साथ ही मानें, कर्म आदि के साथ न मानें यह समभिरूढ़नय का सिद्धन्त है ।

एवंभूतनय

जिस शब्द का अर्थ जिस क्रिया को दिखाता हो, उस क्रिया में तत्पर पदार्थ को ही उस शब्द का वाच्य मानना एवंभूतनय का विषेय है । जैसे पूजा करते समय ही किसी को **'पुजारी'** मानना, सेवा करते समय ही किसा को **'सेवक'** मानना और युद्ध करते समय ही किसी को **'योद्धा'** मानना आदि ।

प्रत्येक शब्द का अर्थ किसी–न–किसी क्रिया से संबंध रखने वाला होता है ।

'शाकटायन' के मतानुसार प्रत्येक शब्द की उत्पत्ति किसी–न–किसी धातु से हुई है । किसी भी भाषा में धातु से संबंन्ध न रखने वाले शब्द मिलना बहुत कठिन है । तात्पर्य यह है कि प्रत्येक शब्द का किसी–न–किसी क्रिया से संबन्ध होता ही है ।

समभिरूढ़नय किसी एक समय हुई क्रिया देखकर उस वस्तु के लिए उस शब्द का निरंतर प्रयोग करेगा, लोकन एवंभूतनय जब और जब तक क्रिया हो रही है, तब और तब तक ही उसे उस शब्द से

बुलाएगा । यह नय, शब्द के अर्थ की दृष्टि से शब्दनय और समभिरूढनय से विशेष तत्पर है ।

एवंभूतनय घट शब्द को उसकी क्रिया के अर्थ से और क्रिया के अर्थ को **'घट'** शब्द से निश्चित करता है । जैसा वाचक होगा, वैसे ही वाच्य की प्रतिपत्ति या ज्ञान होगा । शब्द के अनुसार अर्थबोध न होता हो, तो संशय, विपर्यय, एकत्व और संकीर्णता आदि दोष उत्पन्न होंगे । इसलिए एवंभूत नय का सिद्धांत है कि **'शब्द'** के कारण **'अभिधेय'** है और **'अभिधेय'** के कारण **'शब्द'** है । **'घट'** शब्द से वाच्य होनेवाले अर्थ को घटन चेष्टा रहित दशा में घट के रूप में मानने से यह नय साफ इन्कार करता है । यदि घट, कुट, कुंभ आदि पर्याय शब्दों से अर्थ का भेद मान्य हो, तो `चेष्टारहित अवस्था में भी उसे किस तरह घट मान सकते हैं ? इस नय के अनुसार जीव शब्द के दस आदि **'प्राणों'** को धारण करनेवाले जीव को ही जीव कहा जा सकेगा । सिद्धों के जीवों को जीव नहीं, बल्कि सत्त्व, आत्मा और अर्थानुसारी यथार्थ नामों से पुकारा जा सकेगा ।

इस नय के अनुसार **'देशी'** और **'देश'** दो जैसे भिन्न नहीं हैं, वैसे एक भी नहीं, किन्तु सभी वस्तुएँ अखंडित स्वरूपवाली हैं । समभिरूढ़नय के अनुसार **'देशी'** को ही **'देश'** माना जाए तो उन दोनों को देशी–देश ऐसा पर्यायवचन प्राप्त हो जाता है । इससे पुनरुक्ति, अनर्थ, वस्तु का संक्रम, स्वपक्षविघात आदि दोष उत्पन्न होते हैं ।

इन सातों नयों में प्रारंभिक कुछ नय स्थूल और अनेक विषयवाले हैं तो बाद में आने वाले नय सूक्ष्म और अल्प विषयवाले हैं । नैगम नय **'सत्'** और **'असत्'** दोनों पदार्थों को विषय बनाता है, क्योंकि संकल्प **'सत्'** **'असत्'** दोनों के बारे में हो सकता है । संग्रह नय में सिर्फ **'सत'** को ही विषय बनाया गया है । व्यवहार नय **'सत्'** के एक विभाग को ही जानता है । ऋजुसूत्रनय में सिर्फ वर्तमान काल के स्थूल पर्याय ही विषय बनते हैं । **'शब्द'** नय, ऋजुसूत्रनय से भी अल्प विषय को ग्रहण करता है, क्योंकि ऋजुसूत्र में लिंग आदि का भेद होते हुए भी अर्थभेद नहीं माना जाता, लेकिन शब्दनय में वह माना गया है । शब्द नय से

समभिरूढ़नय का और समभिरूढ़नय से एवंभूतनय का विषय अल्प है। यह बात ऊपर किए गए विवेचन से स्पष्ट समझी जा सकती है।

नैगम, संग्रह, व्यवहार और ऋजुसूत्र ये चार नय अर्थ को ही मुख्य और शब्द को गौण मानकर वस्तु का प्रतिपादन करते हैं, तो बाकी तीन नय शब्दनय, समभिरूढ़नय और एवंभूत नय शब्द को मुख्य और अर्थ को गौण मानकर वस्तु का प्रतिपादन करते हैं।

परस्पर विरोध का समाधान

ये सभी सात नय परस्पर विरूद्ध हैं, फिर भी जैसे राजा सेवकों को और न्यायधीश वादी–प्रतिवादी को विरोधरहित बनाते हैं, वैसे यहाँ भी सम्यगज्ञानी श्री तीर्थंकर देव या जैन मुनि परस्पर विरूद्ध होनेवाले अनेक नयों को, उनके एकान्त निश्चय रूप आग्रह विष को हटाकर उन्हें निर्विष बना देते हैं।

लोक में यह बात प्रसिद्ध है कि जैसे मंत्रवादी (शास्त्रादिक) का संयोग हो तो विष भी अमृत बनकर अनेक कुष्ठादि रोगों को दूर करने वाला होता है, वैसे ही नयों का एकांत विष दूर होने से वे सम्यक् अर्थात् अविरोधी बन जाते हैं।

प्रत्येक नय वस्तु को एक अंश से बताता है, इसलिए वह मति–श्रुतादि ज्ञान की तरह एक ही वस्तु को भिन्न–भिन्न रूपों में देखने वाला बनता है, लेकिन एकत्र होने पर वे सभी नय केवलज्ञान की तरह वस्तु के पूर्ण रूप को बतानेवाले भी बनते हैं।

अथवा–हाथी के विभिन्न अवयवों में हाथी का ज्ञान करनेवाले अंधपुरुषों की तरह अनंतधर्मात्मक वस्तु के भिन्न–भिन्न धर्मो–से सम्पूर्ण वस्तु का ज्ञान करानेवाले नय मिथ्यादृष्टि हैं और सामूहिक रूप में होने वाले ये ही नय हाथी के पूर्ण अवयवों को हाथी कहनेवाले मनुष्य की तरह समस्त पर्यायों से युक्त वस्तु को बताने वाले होने से सम्यग्वादी है।

अथवा जैसे बिखरे हुए मणिरत्न रत्नमाला नहीं कहलाते, वैसे ही भिन्न–भिन्न नय स्वतंत्र रूप से वस्तु के यथार्थ रूप बताने वाले नहीं बन सकते हैं। लेकिन वे ही सब रत्न एकत्र कर सूत्र में पिरोने पर

रत्नमाला कहलाती हैं, उसी प्रकार सभी नय सापेक्ष बनने से संपूर्ण वस्तु के परिचायक हो सकते हैं ।

अनेक धर्मों से युक्त पदार्थ को ग्रहण करने वाला ज्ञान **'प्रमाण'** है तथा उसी पदार्थ को उसके किसी एक ही धर्म को बतानेवाले और उसके बाकी धर्मों का स्वीकार करनेवाले या तिरस्कार न करने वाले **'नय'** हैं । धर्म अंनत होने से नय भी अनंत हैं । लेकिन सर्वसंग्राहक अभिप्राय की कल्पना से उसके मुख्य सात भेद किए हैं । ये ही सब स्वाभिप्रेत धर्म के आग्रह और अन्य धर्मों का तिरस्कार करनेवाले होते हैं, तब उन्हें **'दुर्नय'** कहा जाता है ।

जितने भी अन्य दर्शन उत्पन्न हुए हैं, वे सब इसी दुर्नय के प्रभाव से बने हैं । नैयायिक और वैशेषिक दर्शन नैगमनय से पैदा हुए हैं, सभी अद्वैतवाद और सांख्यदर्शन संग्रह नय के अभिप्राय से बने हैं, चार्वाक दर्शन मुख्यतया व्यवहारनय का अनुसरण करता है, बौद्ध दर्शन, ऋजुसूत्रनय का अनुकरण करनेवाला है, तो रूढ़ि से शब्दों की प्रवृत्ति की इच्छा रखनेवाला मीमांसक–दर्शन शब्दनय से उत्पन्न हुआ है । व्युत्पत्ति आदि के द्वारा प्रवृत्ति बताने वाले व्याकरण आदि समभिरूढ़ और एवंभूतनयों से बने हैं ।

नयविज्ञान में कुशल होने वाला जीव इस प्रकार एक–एक नय के अभिप्राय से उत्पन्न दर्शनों की अयथार्थता को अच्छी तरह जान सकता है, इससे वह अपने सिद्धान्त में स्थिर रह सकता है और दूसरों को स्थिर रख सकता है ।

ज्ञेय वस्तु के संबंन्ध में किसी प्रकार का संदेह न रह पाए, इसलिए सभी नयों के बारे में ज्ञान पाना अत्यत आवश्यक है । नयों का यथार्थ ज्ञान प्राप्त करने वाले जीव सत्य–असत्य में भेद कर सकता है । ऐसा जीव एक नयानुसारी दर्शनों को असत्य जान सकता है । इतना ही नहीं, बल्कि वह पूर्ण सत्य को ही एक पक्ष बनाने वाले स्याद्वाद सिद्धांत को झूठमूठ कलंकित करने वाले व्यक्तियों के उल्लेखों को युक्ति से निरस्त कर सकता है । इस प्रकार ऐसा व्यक्ति सत्य सिद्धांत की आशातना से स्वयं बच सकता है और दूसरों को बचा सकता है ।

नमस्कार की उत्पत्ति

सर्वसंग्राहक नैगमनय नमस्कार को अनुत्पन्न मानता है वहाँ दूसरी ओर अन्य सभी नय नमस्कार को उत्पन्न हुआ मानते हैं । सर्वसंग्राहक नैगमनय और संग्रहनय सामान्य मात्र का ही अवलंबन करने वाले होने से उनके अनुसार जगत् में सब कुछ उत्पाद और व्यय से रहित है । शेषनय अर्थात् विशेषग्राही नैगम नय और व्यवहार नय आदि विशेषग्राही होने से वस्तु को उत्पाद और व्ययसहित मानते हैं ।

नमस्कार को **'उत्पन्न'** माननेवाले नयों में पहले के तीन नय नैगम, संग्रह और व्यवहार–उसकी उत्पत्ति के तीन कारण मानते हैं–समुत्थान, वाचना और लब्धि । समुत्थान यानी जिससे सम्यक उत्पत्ति होती है । प्रकृत में नमस्कार का आधार रूप देह यानी शरीर समझना चाहिए । वाचना यानी गुरु के पास रह कर श्रवण आदि और लब्धि यानी उसका आवरण करनेवाले कर्मों का क्षयोपशम ।

ऋजुसूत्रनय के अनुसार समुत्थान के बिना सिर्फ **'वाचना'** और **'लब्धि'** से ही नमस्कार उत्पन्न होता है, क्योंकि वाचना और लब्धि रूप कारण के अस्तित्व के बिना शरीररूप कारण के सद्भाव मात्र से नमस्कार की उत्पत्ति नहीं होती है ।

शब्द आदि तीन नय सिर्फ **'लब्धि'** को ही नमस्कार की उत्पत्ति का कारण मानते हैं, क्योंकि लब्धिरहित यानी तदावरणीय कर्मों के क्षयोपशम से रहित अभव्य जीव को वाचना और देह इन दोनों कारणों के होने पर भी नमस्कार की उत्पत्ति नहीं होती है और लब्धियुक्त प्रत्येकबुद्धादि आदि महापुरुषों को वाचना के अभाव में भी नमस्कार की उत्पत्ति हो सकती है ।

सामान्यवादियों का मत

सत्तामात्रग्राही सर्वसंग्राहक नैगम और संग्रह नय के अनुसार नमस्कार निरंतर **'सत्'** और विद्यमान है । जो निरंतर **'सत्'** है वह

कभी आकाश की तरह उत्पन्न नहीं होता है । यदि नित्य की भी उत्पत्ति मानी जाए तो उत्पन्न का भी उत्पाद होने का प्रसंग आएगा और इससे अनवस्था नामक महादोष की आपत्ति आएगी । फिर जो निरंतर विद्यमान है, वह कभी नष्ट नहीं हो सकता है क्योंकि नाश और नित्यता ये दोनों एक–दूसरे के विरोधी हैं ।

शंका–नमस्कार निरंतर विद्यमान है, तो फिर वह जीव की मिथ्यात्वदशा में क्यों दिखाई नहीं देता?

समाधान–विद्यमान होने पर भी नमस्कार के न दिखाई देने का कारण नमस्कार को रोकनेवाले कर्म का सद्भाव है । अतीन्द्रिय ज्ञानी पुरुष मिथ्यात्वदशायुक्त जीव में भी प्रच्छन्न रूप में रहे नमस्कार को देख सकते हैं । अन्य आत्माएँ (जीव) उसे देख नहीं सकती हैं । सर्वदा विद्यमान **'आत्मस्वरूप'** अमूर्त होने से जैसे केवलज्ञानी महर्षियों के बिना उसे कोई देख नहीं सकता है, वैसे ही मिथ्यात्व अवस्था में भी जीव के भीतर सत्तारूप में रहने वाले नमस्कार को केवलज्ञानावरण से आवृत्त छद्मस्थ आत्माएँ देख नहीं सकती हैं ।

विशेषवादियों का मत

जो वस्तु **'सत्'** होती है वह घट की तरह उत्पाद, व्यय और ध्रौव्ययुक्त ही होती है । उत्पाद–व्ययरहित वस्तु आकाशकुसुम की तरह असत् होती है । विद्यमान नमस्कार आवरण के उदय से नहीं जाना जाता ऐसा नहीं है, बल्कि वह है ही नहीं, इसलिए नहीं जाना जाता । आवरण आदि की कल्पना कल्पित है ।

प्रश्न–यदि नमस्कार अविद्यमान ही हो, तो किसी भी जगह पर वह देखने में नहीं आना चाहिए, किन्तु अन्यत्र वह देखा जाता है । तो उसके न दिखाई देने मात्र से उसका सर्वथा अभाव है, ऐसा कैसे माने? अन्यत्र भी जिसकी सत्ता हो, वह वस्तु विद्यमान होती ही है, असत् की सत्ता किसी भी जगह नहीं होती ।

उत्तर–अन्य संतानवर्ती वस्तु अन्य की है, ऐसा नहीं कहा जाता है। ऐसा मानने से तो धनवान के धन द्वारा निर्धन को भी धनवान मानना पड़ेगा। लेकिन एक के धन से दूसरा धनवान बनता है, ऐसा नहीं कहा जाता है। एक स्थान पर विद्यमान वस्तु की सत्ता अन्यत्र स्वीकार की जाए, तो एक नमस्कारवान् सम्यग्दृष्टि आत्मा की अर्हदादि की भक्ति का फल नमस्कार रहित सभी मिथ्यादृष्टि वालों को भी मिलना चाहिए। इतना ही नहीं, दान–ध्यान, हिंसा–मृषावाद, जैसी शुभ–अशुभ क्रियाओं का फल भी सर्वसामान्य बन जाना चाहिए। ऐसा हो तो कृतनाश और अकृतागम जैसे अनेक दोष उत्पन्न हुए बिना नहीं रहेंगे।

अथवा सम्यग्दृष्टि जीवों के संतान–प्रवाह की अपेक्षा से भी नमस्कार नित्य नहीं है, क्योंकि सम्यग्दृष्टि जीवों का संतान प्रवाह भी उत्पाद, व्यय और ध्रौव्ययुक्त है। इसलिए सम्यग्दृष्टि से अभिन्न नमस्कार भी उत्पाद–व्ययादि को पाने वाला ही है, किन्तु सर्वथा नित्य नहीं है।

नित्यानित्यत्व सिद्धि

यह बात स्पष्ट रूप से समझने के लिए **'नमस्कार'** क्या है ? वह समझना चाहिए।

आत्मा के श्रुतोपयोग रूप नमस्कार ज्ञानरूप है, **'नमो अरिहंताणं'** आदि पदोच्चारण रूप नमस्कार शब्दरूप है और सिर झुकना, हाथ जोड़ना, अवयवों का संकोच करना आदि क्रियाओं के रूप में होनेवाला नमस्कार क्रियारूप है।

उसी प्रकार ज्ञान, शब्द और क्रिया रूप नमस्कारत्रिक के संयोगरूप में होनेवाला नमस्कार भी चार प्रकार का है–1. ज्ञान और शब्दरूप, 2. ज्ञान और क्रिया रूप, 3. शब्द और क्रियारूप, 4. ज्ञान, शब्द और क्रियारूप। इस प्रकार नमस्कार कुल मिलाकर सात प्रकार का होता है। ये ज्ञान–शब्दादि नित्य भी होते हैं और अनित्य भी होते हैं। इसलिए नमस्कार भी नित्य और अनित्य इन दोनों रूपों में होता है।

ज्ञान के नित्यत्व की सिद्धि

नित्य जीव से ज्ञान अभिन्न है। इसलिए ज्ञान भी नित्य है। ज्ञान आकाश की तरह अमूर्त होने से उत्पादादि रहित अर्थात् नित्य है। सभी जीवों में अक्षर (केवलज्ञान) का अनंतवाँ भाग नित्य खुला होता है, इसलिए भी वह नित्य है। आकाशद्रव्य के अवगाह गुण की तरह ज्ञान अरूपी आत्मद्रव्य का गुण होने से नित्य है, अथवा **'ज्ञान', 'शब्द'** आदि सब आविर्भाव (प्रकट होना), तिरोभाव (गायब होना) से युक्त होने से सर्वदा नित्य हैं।

शब्द के नित्यत्व की सिद्धि

1. शब्द प्रयोग परप्रत्यायक होने से शब्द सदा अवस्थित (नित्य) होता है। जो दूसरे के लिए उपयोग में आता है। वह उस क्रिया व्यापार के पहले अवश्य होता है। वृक्ष काटने के लिए प्रयुक्त होने वाली कुल्हाड़ी काटने की क्रिया से पहले अवश्य अस्तित्व में होती है। उसी प्रकार शब्द भी परप्रत्यायन क्रिया करानेवाला होने से इस क्रियाकाल के पहले अपना अस्तित्व सिद्ध करता हैं।

2. मेरु या स्वर्ग आदि शाश्वत पदार्थ अभिधेय रूप होने से उनके वाचक शब्द भी केवलज्ञान की तरह नित्य हैं। यदि शब्द स्वयं अनित्य हो, तो नित्य होनेवाले मेरु आदि पदार्थों के साथ वाच्य–वाचक भाव का संबंध रख नहीं सकते। संकेत का कारण वाच्य–वाचक भाव का संबंध इंद्रियग्राह्य होने वाले घट–पटादि अनित्य पदार्थों में ही संभव है। अतीन्द्रिय पदार्थों के बारे में संकेत नहीं हो सकते। इसलिए मेरु आदि पदार्थों के साथ शब्द का अनादि संसिद्ध, अकृत्रिम वाच्य–वाचक संबंध विद्यमान है। एक जगह पर शब्द का नित्यत्व सिद्ध है, तो अन्यत्र भी उसका नित्यत्व सिद्ध हैं, क्योकि शब्दत्व सर्वत्र समान है।

3. सूर्य, चंद्रमा आदि नित्य और घट–पट आदि अनित्य पदार्थों के वाचक सभी शब्द अनादिकाल से उनके वाचक रूप में सिद्ध है, अतः

वे नित्य हैं । घट आदि वाचक शब्द सांकेतिक होने से वे अनादि काल से संसिद्ध नहीं हैं, ऐसा कहना युक्तिरहित है, क्योंकि संकेत किया ही नहीं जा सकता । जिस शब्द द्वारा संकेत किया जाता है, वह शब्द दूसरे संकेतकारक शब्द की अपेक्षा रखता ही है । इसी तरह प्रत्येक संकेतकारक शब्द अन्य–अन्य शब्दों की अपेक्षा रखनेवाला होने से अनवस्था (अप्रामाणिक अनंत पदार्थों की कल्पना) का दोष उत्पन्न होता है । इसलिए प्रत्येक शब्द का संकेत अनादिकाल से स्वयंसिद्ध मानना ही युक्तियुक्त है ।

उपर्युक्त रीति से घट आदि पदार्थों के साथ शब्द का वाच्य–वाचक भाव संबन्ध नित्य होता है । इसलिए इस संबन्ध को बताने वाले संबन्धित शब्द भी नित्य सिद्ध होते हैं । यदि संबन्धी शब्द नित्य हो, तो वाच्य–वाचक भाव सबन्ध भी नित्य हो सकता है ।

ज्ञान के अनित्यत्व की सिद्धि

जिस कारण ज्ञान जीव से अभिन्न है, उसी कारण ज्ञान उत्पन्न होता है, क्योंकि जीव भी देवादि भव में बारबार उत्पन्न होता है, इससे ज्ञान भी उत्पन्न होता है । अक्षर–का अनंतवाँ भाग नित्य अनावृत कहा है, वह अविशिष्ट ज्ञान सामान्य को उद्देश्य कर ही कहा है । यहाँ सम्यग्ज्ञान के प्रसंग में उसका अधिकार नहीं है ।

'नमस्कार' सम्यग्ज्ञानात्मक होने से वह उत्पन्न होता है। आकाश आदि के अवगाहन आदि गुण, गुण होने से नीला, लाल आदि गुणों की तरह उत्पादादि धर्मवाले हैं, इसीलिए नमस्कार आदि जीव के गुण भी उत्पादादि धर्मवाले हैं । अथवा अवगाहक की अनित्यता सिद्ध होने के बाद अवगाह की अनित्यता अपने आप सिद्ध होती है । आकाश के साथ घट,पट आदि का संयोग अवगाह है और यह संयोग दो उंगलियों के संयोग की तरह अवश्य उत्पादादि धर्मवाला है । उसी प्रकार गति, उपकार आदि धर्मास्तिकायादि द्रव्यों के गुण भी उत्पादादि स्वभाववाले ही होते हैं ।

आकाश का घट आदि के साथ संयोग तथा परमाणु के वर्ण, गंध आदि पर्याय, आकाश और परमाणु द्रव्य से एकदम भिन्न नहीं, किंतु कथंचित् अभिन्न भी हैं। पर्याय का नाश होने से पर्यायी द्रव्य का भी नाश मानना ही चाहिए, क्योंकि पर्याय पर्यायी से सर्वथा भिन्न नहीं, बल्कि कथंचित् अभिन्न है। इसलिए आकाश आदि द्रव्य भी सर्वथा नित्य होते हैं, यह कहना सर्वथा गलत है।

शब्दादि के अनित्यत्व की सिद्धि

शब्द नित्य नहीं, बल्कि उत्पाद–व्यययुक्त है; क्योंकि शब्द घट–पटादि पदार्थों की तरह इंद्रियग्राह्य हैं, प्रयत्नजन्य हैं और पुद्गलसमूहात्मक हैं।

शब्द की तरह ज्ञान भी अनित्य है। निमित्त के सद्भाव से उत्पन्न होनेवाली वस्तुएँ घट–पट आदि की तरह सदा अनित्य ही होती है।

शब्द और ज्ञान की तरह सिर से नमन करना आदि क्रियाएँ भी अनित्य है, क्योंकि वे भी अपने–अपने निमित्त से उत्पन्न होनेवाली होती हैं। जिस निमित्त से वे उत्पन्न होती हैं, वे भी घट–पट आदि की तरह अनित्य ही हैं।

ज्ञान, शब्द और क्रिया वे सब उत्पत्तिस्वरूप सिद्ध होने से, तदात्मक नमस्कार भी उत्पत्ति आदि धर्म से युक्त है, यह बात अपने आप सिद्ध हो जाती है। उत्पन्न होनेवाली वस्तु अपनी उत्पत्ति में किसी–न–किसी निमित्त की अपेक्षा अवश्य रखती है। इसीलिए नमस्कार की उत्पत्ति में त्रिविध निमित्त होते हैं, जिन्हें हम ऊपर देख आए हें।

उत्पत्ति के त्रिविध निमित्त

देह, वाचना और लब्धि ये नमस्कार की उत्पत्ति के निमित्त हैं। यह बात प्रारंभिक नैगम आदि तीन नय मानते हैं। घट आदि पदार्थ पहले उत्पन्न हुए हैं, फिर भी उन्हें प्रकट करने के लिए दीपक आदि की आवश्यकता होती हैं, वैसे ही पहले उत्पन्न हुए **'नमस्कार'** को इस भव

में उत्पन्न करने के लिए इस भव के शरीर की आवश्यकता होती है। भव प्रत्ययिक अवधिज्ञान को जैसे भवधारणीय देह का समुत्थान हेतु रूप होता है, वैसे ही पहले उत्पन्न हुए **'नमस्कार'** को भी वर्तमान भव के देह का समुत्थान अर्थात् यह शरीर हेतु है।

ऋजुसूत्रनय का मत है कि यदि **'नमस्कार'** पूर्वभव में उत्पन्न हुआ है तो उसे इस भव का शरीर (समुत्थान रूप कारण) कुछ भी उपकार नहीं कर सकता है। उस नय के मत से उत्पन्न वस्तु के लिए कारण की अपेक्षा नहीं होती है। जो **'नमस्कार'** इस भव में उत्पन्न होता है, उसके लिए वाचना और लब्धि के सिवाय अन्य किसी कारण की आवश्यकता नहीं रहती है। नमस्कार का लाभ **'स्व'** से होता है या **'पर'** से होता है, इसके अतिरिक्त तीसरी गति नहीं है। यदि यह लाभ पर से होता है, तो उसका कारण वाचना है और यदि स्व से होता है, तो उसका कारण क्षयोपशम है।

पूर्व जन्म में **'नमस्कार'** उत्पन्न हुआ हो तो भी वह वाचना और लब्धि के सिवाय अन्य किसी तीसरे कारण से नहीं हुआ यही मानना पड़ेगा, क्योंकि उस जन्म में भी यदि पर से लाभ हुआ हो तो **'वाचना'** से और यदि स्व से लाभ हुआ हो तो वह **'लब्धि'** से हुआ है। इन दोनों के सिवाय उदय का कोई तीसरा कारण मानने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि वाचना और लब्धि के बिना सिर्फ देह से नमस्कार की उत्पत्ति में प्रत्यक्ष विरोध है।

शब्द आदि तीन नयों का मत है कि **भारीकर्मी** जीव वाचना होन पर भी नमस्कार नहीं पाता है और लघुकर्मी जीव वाचना के बिना भी क्षयोपशम से अवश्य पाता है, इसलिए लब्धि ही हेतु है, वाचना हेतु नहीं है।

'नमस्कार की उत्पत्ति में वाचनाजन्य मतिज्ञानावरण का क्षयोपशम कारण है, इसलिए परंपरा से वाचना भी नमस्कार का कारण है' यह जो कहा जाता है, वह अयोग्य है, क्योंकि भारीकर्मी

आत्मा के लिए वाचना भी यथोक्त क्षयोपशम करने वाली नहीं होती है, इसलिए नमस्कार की उत्पत्ति में वाचना यह एकांतिका कारण नहीं, बल्कि अनेकांतिक कारण है। अथवा जिसे वाचना से क्षयोपशम होता है, उसके लिए वह वाचना भी सिर्फ मतिज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम का कारण है, लेकिन नमस्कारावरणीय कर्म के क्षयोपशम से प्राप्त होने योग्य **'नमस्कार'** का कारण नहीं है।

यहाँ **'नमस्कारावरणीय कर्म'** का अर्थ नमस्कार रूप सम्यग्ज्ञान को ढकनेवाला, कर्म इतना ही अभिप्रेत है। कारण का कारण होने से **'नमस्कार का कारण है'** ऐसा कहा जाए, तो भूमि, शय्या, आसन, आहार, वस्त्र, पात्र आदि सभी बाह्य वस्तुएँ भी क्षयोपशम के लिए उपकारी होने से वे भी परंपरा से नमस्कार के लिए कारण बनेगी।

'वाचना निकट उपकारी है, इसलिए वही कारण है, आसन-शय्या आदि निकट के उपकारी नहीं हैं, अतः वे कारण नहीं है' ऐसा कहा जाए तो फिर **'लब्धि'** ही उसका निकट का और एकांतिका कारण है वह स्वीकार करना उचित है, क्योंकि वही नमस्कार का अनंतर और अविरोधी कारण है। ऐसा न माना जाए तो कारण के रूप में वाचना का ही नियम सिद्ध नहीं होता, बल्कि परंपरा से उपकारी भूमि, वस्त्र, पात्र आदि सबको कारण मानने का प्रसंग सामने खड़ा होता है।

इस प्रकार पहले तीन नय तीन प्रकार के कारणों को, ऋजुसूत्रनय दो कारणों को और शब्द आदि तीन नय एकमात्र लब्धि (क्षयोपशम) को ही नमस्कार का कारण मानते हैं।

निक्षेपद्वार

'निक्षेप' शब्द का अर्थ स्थापन करना होता है। स्थापन करना, आरोपण करना, न्यास करना आदि निक्षेप के ही पर्यायवाची शब्द हैं। शब्द में अर्थ का या अर्थ में शब्द का आरोप करना निक्षेप कहलाता है। **'प्रत्येक शब्द के कम-से-कम कितने अर्थ हो सकते हैं?'** इस प्रश्न

का उत्तर निक्षेप से मिलता है। किसी शब्द के भले ही सैंकड़ों अर्थ होते हों, अर्थात् सैंकड़ों अर्थों में उसका निक्षेप किया जाए, फिर भी उसके नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव ये चार अर्थ अवश्य होते हैं। इसी को **'चार निक्षेप'** कहा जाता है।

'नमस्कार' शब्द के भी नाम नमस्कार, स्थापना नमस्कार, द्रव्य नमस्कार और भाव नमस्कार यो चार अर्थ हो सकते हैं। अर्थात् **'नमस्कार'** शब्द इन चार अर्थों में प्रयुक्त हो सकता है।

नाम और स्थापना नमस्कार

'नमः' यह नाम नमस्कार है और **'नमः'** ऐसे दो अक्षर लिखना अथवा नमस्कार करने के लिए प्रेरक साधु आदि का संकोचित, करचरणादियुक्त चित्रकर्मादिगत आकार–स्थापना–नमस्कार है।

द्रव्य–नमस्कार

द्रव्य–नमस्कार दो प्रकार का होता है, आगम से और नोआगम से। उपयोगरहित **'नमस्कार'** शब्द बोलना आगम से द्रव्य–नमस्कार है। नोआगम से द्रव्य–नमस्कार तीन प्रकार का होता है–**'ज्ञशरीर, भव्यशरीर और तद्व्यतिरिक्त'**

1. नमस्कार ज्ञाता का मृतदेह, यह नो-आगम से ज्ञशरीर द्रव्य नमस्कार है।

2. भविष्य काल में नमस्कार को जानने वाले का वर्तमान शरीर यह नोआगम से भव्यशरीर द्रव्य–नमस्कार है।

3. तद्व्यतिरिक्त द्रव्य–नमस्कार के अनेक प्रकार हैं। जैसे–

(क) मिथ्यात्व से भ्रष्ट, निह्नव आदि का नमस्कार भी द्रव्य–नमस्कार है।

(ख) उपयोगरहित सम्यक्त्ववान् का नमस्कार भी द्रव्य नमस्कार है।

(ग) पौद्गलिक द्रव्य के लिए किया जाने वाला देवादि को नमस्कार द्रव्य नमस्कार है।

(घ) भयादि के कारण, भिखारी राजा को नमस्कार करता है, यह भी द्रव्य नमस्कार हैं ।

(ङ) असंयमी को भाव से किया गया नमस्कार भी द्रव्य–नमस्कार है ।

भाव नमस्कार

भाव नमस्कार भी दो प्रकार का है । पहला आगम से और नो आगम से । **'नमस्कार'** के अर्थ को जाननेवाले और उसमें उपयोगवान् आत्मा का नमस्कार, यह आगम से भाव नमस्कार है ।

मन द्वारा नमस्कार में उपयोगवाला **'नमो अरिहंताणं'** इस वचन से बोलनेवाला तथा हाथ, पाँव, मस्तक आदि के संकोच से काया द्वारा नमन क्रिया करने वाले का नमस्कार नोआगम से भाव नमस्कार है । यहाँ नो **'शब्द'** निषेधवाचक नहीं, बल्कि मिश्रवाचक है । उपयोगरूप आगम और वचन, काया की क्रियाओं के रूप में होने वाले **'आगमाभाव'** दोनों से मिश्र होने से उसे नोआगम से भाव नमस्कार कहा जाता है ।

नयों के अनुसार निक्षेपों का विचार

शब्दादि तीन नय विशुद्ध होने से सिर्फ भाव की इच्छा रखते हैं और ऋजुसूत्र आदि चार नय अविशुद्ध होने से चारों प्रकार के निक्षेप को चाहते हैं । प्रारंभिक चार नय चारों प्रकारों के निक्षेप की इच्छा रखते हैं, उसका कारण यह है कि–नैगमनय वस्तु को जानने के सभी प्रकारों की इच्छा रखता है । उसके दो प्रकार हैं–1. सर्वसंग्राहक, 2. असर्वसंग्राहक अथवा देशसंग्राही ।

सर्वसंग्राहक नैगम सामान्यवादी है और असर्वसंग्राहक नैगम विशेषवादी है । दूसरे शब्दों में कह सकते है कि सर्वसंग्राहक नैगम विशेषवादी है । दूसरे शब्दों में कहे सकते हैं कि सर्वसंग्राहक नैगम नय और संग्रह नय ये दोनों एक ही मान्यता वाले नय हैं, तो असर्वसंग्राहक नैगम नय और व्यवहार नय ये दो भी समान मान्यता रखते हैं । इससे नैगम नय का संग्रह व्यवहार नय में अंतर्भाव हो जाता है अथवा संग्रह और व्यवहार नय का नैगम नय में अंतर्भाव हो जाता है ।

यदि नैगम नय चार निक्षेपों को चाहता है तो संग्रह और व्यवहार नय भी उससे अभिन्न होकर चारों निक्षेपों को चाहते हैं। यह बात आसानी से सिद्ध हो जाती है। विशेष इतना ही है कि संग्रह नय स्थापना सामान्य को चाहता है तो व्यवहार नय स्थापना विशेष की इच्छा रखता है।

ऋजुसूत्रनय भी चारों निक्षेपों को चाहता है। इसका कारण यह है कि ऋजुसूत्रनय भी वर्तमान क्षणस्थायी द्रव्य को ही मानता है। जो नय अनाकार द्रव्य को भावहेतुक मानना चाहता है, वह नय भाव में विशेष हेतुभूत साकार स्थापना को क्यों नहीं मानेगा ?उसी प्रकार ऋजुसूत्रनय द्रव्य को माननेवाला होने से नाम को भी मानता ही है। वाच्यार्थशून्य संज्ञा रूप नाम को भी जो नय भाव का कारण मान सकता है, तो वह नय विशिष्ट भावना सहित कारणभूत स्थापना को न माने यह कैसे हो सकता है? अथवा ऋजुसूत्रनय इंद्रादिक संज्ञारूप नाम भावइंद्र में है, इसलिए यदि वह नाम की इच्छा रखता हो, तो द्रव्य और स्थापना भी भाव इन्द्र में नाम की अपेक्षा निकट के हेतु होने से उन्हें विशेष रूप से मानना चाहिए।

शब्दरूप नाम यह तो बाह्यतर हेतु है, जबकि इंद्रमूर्ति रूप द्रव्य और विशिष्ट आकृति रूप स्थापना ये दोनों इंद्ररूप पर्याय के साथ कथंचित् तादात्म्य संबन्ध में होने से अधिक निकट के हेतु हैं।

शब्दरूप नाम अथवा नाम रूप शब्द ये तो वाच्य–वाचक भाव संबन्धरूप में ही होते हैं, फिर भी वे भाव के कारण बन सकते हैं, तो फिर स्थापना और द्रव्य तो उससे भी अधिक निकट वाले होने से उससे भी अधिक भाव के हेतु रूप बनें, इसमें क्या आश्चर्य है? अर्थात् नाम और भाव को मानने वाला ऋजुसूत्रनय स्थापना और द्रव्य विशेष को स्वीकर न करे, यह चल ही नहीं सकता है।

पद द्वार

जिसके द्वारा अर्थ जाना जाता है, उसे पद रहते हैं। उसके पाँच प्रकार हैं–नामिक, नैपातिक, औपसर्गिक, आख्यातिक और मिश्र।

जैसे **'अश्व', 'गौ'** आदि नामिक पद हैं।

'एवं', 'खलु' आदि नैपातिक पद हैं ।

'अनु', 'परि' आदि औपसार्गिक पद हैं ।

'गच्छति', 'धावति' आदि आख्यातिक पद हैं ।

'संयत' 'नियत' आदि मिश्र पद हैं ।

यहाँ **'नमः'** यह नैपातिक पद है । पद के प्रारंभ और अंत में जो पड़ता है, वह निपात कहलाता है । **'निपात'** शब्द के स्वार्थ में **'अ'** प्रत्यय आने से नैपातिक बन जाता है ।

पदार्थ द्वार

पदार्थ यानी पद का अर्थ । **'नमः',** यह पद पूजा के अर्थ में है यह पूजा दो प्रकार से होती है–द्रव्यसंकोच रूप और भावसंकोच रूप । हाथ, पाँव, मस्तक आदि का संकोच द्रव्यसंकोच है और **'अर्हतादि गुणों में विशुद्ध मन का प्रवेश'** भावसंकोच है ।

द्रव्यसंकोच और भावसंकोच की चतुर्भंगी बनती है–

1. द्रव्यसंकोच होता है, पर भावसंकोच नहीं होता,
2. द्रव्यसंकोच नहीं होता, लेकिन भावसंकोच होता है,
3. द्रव्यसंकोच भी होता है और भावसंकोच भी होता है,
4. भावसंकोच भी नहीं होता और द्रव्यसंकोच भी नहीं होता ।

अंतिम भंग शून्य है, दूसरा और तीसरा भंग आदरणीय है और प्रथम भंग अनादरणीय है ।

द्रव्यसंकोच और भावसंकोच में भावसंकोच ही प्रधान है, क्योंकि वही एकांतिक फल देनेवाला है । भावसंकोच के बिना होनेवाला द्रव्यसंकोच **'पालक'** आदि की तरह निष्फल है, तो द्रव्यसंकोच के बिना होने वाला भावसंकोच **'अनुत्तर सुर'** आदि की तरह फलवाला होता है । लेकिन द्रव्यसंकोच युक्त भावसंकोच की प्रायः जो विशुद्धि होती है, वह द्रव्यसंकोच रहित भावसंकोच वाले की भी नहीं होती है इसलिए उभयसंकोच ही इष्ट और श्रेष्ठ है और **'शांबकुमार'** आदि की तरह तत्काल इष्टसिद्धि को देनेवाला होता है ।

6

नमस्कार की व्याख्या

किसी भी पदार्थ की व्याख्या करनी हो, तो वह छह या नौ प्रकार से करने की शास्त्रीय पद्धति है। यह पद्धति ऐसी है कि इसमें पदार्थ से संबन्धित लगभग सभी प्रकार की चर्चाओं का समावेश हो जाता है। **'पंचशत प्रकरण'** के रचयिता और अपूर्व संग्रहकार के रूप में प्रसिद्ध वाचकमुख्य श्री उमास्वाति जी महाराज ने श्री **'तत्त्वार्थाधिगम सूत्र'** में अधिगम के उपाय बताते हुए इन दोनों प्रकारों की प्ररूपणाओं को निम्नलिखित सूत्रों के द्वारा बताते हैं–

'निर्देश–स्वामित्वसाधनाधिकरणस्थितिविधानतः।'

(अध्याय 1, सूत्र 7)

'सत्संख्याश्रेत्र–स्पर्शन-कालान्तरभावाल्पबहुत्वैश्च'

(अध्याय 1, सूत्र 8)

किसी भी वस्तु का परिपूर्ण ज्ञान पाना हो तो उनके निर्देश आदि को जानना पड़ता है। इसी न्याय से **'नमस्कार'** का भी सांगोपांग ज्ञान पाने के लिए यहाँ उसका स्वरूप बताने का प्रयास किया जाता है।

1. निर्देश

निर्देश यानी नमस्कार का स्वरूप। अर्थात् **'नमस्कार'** क्या है? इसका ज्ञान। नमस्कार का ज्ञान पाने के लिए **'नमस्कार'** जीव है या अजीव? यह जानना चाहिए। यहाँ **'नमस्कार'** जीव का गुण होने से जीव है, अजीव नहीं है। द्रव्यार्थिक नय से, **'जीवद्रव्य'** रूप नमस्कार है और पर्यायार्थिक नय से **'जीवगुण'** रूप नमस्कार है।

सुविशुद्ध नैगम और संग्रहनय समस्त वस्तुओं को एक ही मानने वाले होने से उनकी मान्यता के अनुसार **'नमस्कार'** एक ही है। अविशुद्ध नैगम और व्यवहार नय नमस्कारवान् एक जीव का एक नमस्कार और नमस्कारवान् जीवों के अनेक नमस्कार मानते है।

ऋजुसूत्र आदि चार नय वर्तमान समयवर्ती स्वकीय वस्तु को ही

मानते हैं इसलिए ये नय प्रत्येक का अलग–अलग नमस्कार मानते हैं। विशेषता इतनी ही है कि शब्द आदि तीन नयों के मत से नमस्कार के परिणामवाला जीव **'नमस्कार'** कहलाता है और शेष नैगम आदि नयों के अभिप्राय से **'नमस्कार'**में उपयोगरहित हो, तो भी लब्धिसहित हो अथवा लब्धि के लिए योग्य हो, ऐसा जीव भी **नमस्कार** कहलाता है।

2. स्वामित्व

स्वामित्व यानी नमस्कार का स्वामी कौन है? अथवा नमस्कार किसका है? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि नमस्कार का स्वामी एक जीव भी है और अनेक जीव भी है। प्रतिपद्यमान नमस्कार को प्राप्त करने वाला जीव एक या अनेक होते हैं और पूर्व प्रतिपन्न नमस्कार को पहले प्राप्त किए हुए जीव तो अवश्य ही अनेक होते हैं। लेकिन संग्रह नय सामान्यवादी होने से प्रतिपद्यमान और प्रतिपन्न दोनों पक्षों में बहुत्व नहीं मानता है। दूसरे प्रकार से भी स्वामित्व का विचार किया जा सकता है। **'नमस्कार, नमस्कार्य का या नमस्कार करने वाले का?'** इस प्रश्न का उत्तर भिन्न–भिन्न रीति से देते है।

नैगम व्यवहारनय का उत्तर

नैगमनय तथा व्यवहारनय के अभिप्राय से नमस्कार का स्वामी नमस्कार्य आत्मा है, लेकिन नमस्कार करने वाला जीव उसका स्वामी नहीं है, क्योंकि दान कर देने के बाद वस्तु जैसे देनेवाले की नहीं, बल्कि लेनेवाले की कहलाती है, वैसे नमस्कार भी पूजनीय नमस्कार्य को दान किया जाता है, अतः वह पूजनीय या पूज्य का ही माना जाता है।

अथवा, **'नमस्कार'** पूज्य की प्रतीति करानेवाला होने से पूज्य का धर्म है। जो जिसकी प्रतीति कराए, वह उसका धर्म है। घट का रूप घट की प्रतीति कराता है, इसलिए उसे घट का धर्म कहा जाता है। उसी प्रकार **'नमस्कार'** भी **'नमस्कार्य'** की प्रतीति करानेवाला होने से नमस्कार्य का धर्म है, नमस्कार करनेवाले का धर्म नहीं है।

अथवा–**'नमस्कार'** का परिणाम **'नमस्कार्य'** का निमित्त पाकर उत्पन्न होता है। घट के निमित्त से उत्पन्न होने वाले घट ज्ञान और घट नाम जैसे घट के कहलाते हैं, वैसे **'नमस्कार्य'** के निमित्त से उत्पन्न होने वाला **'नमस्कार'** का परिणाम भी **'नमस्कार्य'** का ही पर्याय मानना उचित है।

अथवा–नमस्कार करनेवाला नमस्कार्य का दासत्व पाता है, इसलिए उस नमस्कार पर नमस्कार करनेवाले का अधिकार नहीं है। **'मेरे दास ने गधा खरीदा'** इसमें जैसे दास और गधा दोनों उसके स्वामी के हैं, वैसे **'गधे'** के स्थान पर **'नमस्कार'** और **'दास'** के स्थान पर **'नमस्कार करनेवाला'** दोनों **'नमस्कार्य'** ऐसे पूज्य अर्हदादि के हैं। इसलिए भी नमस्कार, नमस्कार करनेवाले का नहीं, बल्कि नमस्कार्य का ही है।

पूज्य वस्तुएँ दो प्रकार की होती हैं–एक जीवरूप और दूसरी अजीवरूप। जीव–रूप पूज्य वस्तु श्री जिनेश्वर आदि और मुनिवर आदि हैं। अजीवरूप पूज्य वस्तु श्री जिनप्रतिमादि और चित्रपटादि हैं।

संग्रह नय का उत्तर

'नमस्कार किसका होता है?' इस विषय में संग्रहनय **'जीव सामान्य का नमस्कार है'** ऐसा मानता है। संग्रहनय सामान्य मात्र को ग्रहण करने वाला होने से वह जीव का नमस्कार, अजीव का नमस्कार, स्व का नमस्कार, पर का नमस्कार आदि भेद स्वीकार नहीं करता है। यह नय विशेष रहित सत्ता मात्र रूप में नमस्कार को मानता है। इसलिए इस नय के अनुसार स्व–पर आदि भेदयुक्त नमस्कार है ही नहीं।

संग्रहनय के मत से षष्ठी विभक्ति से निर्दिष्ट भिन्न अधिकरण है ही नहीं, लेकिन समानाधिकरण्य ही है, इसलिए सत्ता सामान्य रूप से एक ही नमस्कार है, ऐसा यह नय कहता है। **'जीव सामान्य का नमस्कार है।'** यह जो उत्तर ऊपर दिया गया है, वह भी अशुद्धतर संग्रह नय के मत के अनुसार है।

ऋजुसूत्रनय का उत्तर

ऋजुसूत्रनय नमस्कार को नमस्कार्य का नहीं, बल्कि नमस्कार करनेवाले का मानता है। क्योंकि नमस्कार तीन प्रकार का होता है–ज्ञानरूप, शब्दरूप और क्रियारूप। ज्ञानरूप नमस्कार जीव से अभिन्न है, इसलिए जीव सिवाय अन्य जड़ प्रतिमा आदि का वह हो ही नहीं सकता है। शब्दरूप और क्रियारूप नमस्कार भी शब्द करने वाले और क्रिया करने वाले का धर्म है। यह धर्म अन्य द्रव्यों में कैसे जा सकता है? यदि एक का धर्म अन्य में जा सकता है तो संकरादि महादोष उत्पन्न होते हैं। इतना ही नहीं, बल्कि पूजक द्वारा किया गया नमस्कार पूज्य का माना जाए तो कृतनाश, अकृतागम आदि दोष भी उत्पन्न हो जाते हैं।

प्रश्न–अन्य द्रव्य में रही हुई वस्तु अन्य द्रव्य की कह सकते हैं, जैसे की तिजोरी में रहा हुआ द्रव्य देवदत्त का है, ऐसा कहते हैं।

समाधान–अन्य स्थान पर रही हुई वस्तु अन्य की है यह व्यवहार सिर्फ द्रव्य में ही हो सकता है। गुणों के बारे में ऐसा व्यवहार नहीं हो सकता। नमस्कार यह पूजक का गुण है, वह पूज्य का कैसे हो सकता है?

शंका–एक के गुणों का उपभोग दूसरा कर सकता है। जैसे पट का उपभोगकर्ता 'देवदत्त' है तो वह पट की सफेदी आदि गुणों का भी भोक्ता है। वैसे ही पूजक के नमस्कार का स्वामी पूज्य क्यों नहीं कहा जा सकता है?

समाधान–पट के शुक्लत्व आदि गुणों का भोक्ता जैसे **'देवदत्त'** बन सकता है, वैसे पूजक के नमस्कार गुण का भोक्ता पूज्य नहीं बन सकता, क्योंकी नमस्कार का अनंतर या परंपर दोनों फल पूज्य को नहीं, बल्कि पूजक को ही प्राप्त होते हैं।

शंका–पूजक का पूजारूप फल तो प्रत्यक्षतः पूज्य में ही जान पड़ता है, पूजक में नहीं, तो फिर नमस्कार पूज्य का मानने में क्या बाधा है?

समाधान–पूज्य, आकाश की तरह पूजारूप फल का उपजीवी नहीं है। इसलिए पूजक की पूजा का फल पूज्य का नहीं है। जो जिसका उपजीवी नहीं है, उसका वह फल नहीं कहलाता है। जैसे जलने वाले अगरु–कर्पूरादि का धुआँ फैलता है। तो उससे मिलनेवाली सुगंध का फल आकाश का नहीं कहलाता है, बल्कि उसके उपजीवक **'देवदत्त'** का ही होता है। वैसे यहाँ भी वीतराग आदि उनकी पूजा के अनुपजीवक न होने से उनकी पूजा का फल उनका नहीं, बल्कि पूजक का ही है।

प्रत्यक्ष दिखाई देनेवाला नमस्कार भी नमस्कार्य के उपकार के लिए नहीं होता, बल्कि नमस्कार करनेवाले के उपकार के लिए ही होता है। इसलिए वह नमस्कार करनेवाले का ही है। नमस्कार का अनंतर फल परिणाम की विशुद्धि है और परंपर फल स्वर्गापवर्गादि की प्राप्ति है। ये दोनों फल पूजक को ही प्राप्त होते हैं। इसलिए नमस्कार पूज्य का नहीं, पूजक का ही कहलाएगा। इसी बात को संक्षेप में इस तरह से कह सकते हैं–

1.नमस्कार करने वाले का होता है, करनेवाले के अधीन होने से, जो जिसके अधीन है, वह उसी का कहलाता है, जैसे धन।

2. नमस्कार करनेवाले का है–करनेवाले के गुण (ज्ञान, क्रिया) शब्द रूप होने से।

3. नमस्कार करने वाले का है–नमस्कार के फल का भोक्ता करने वाला होने से।

4. नमस्कार करने वाले का है–नमस्कार के कारणभूत कर्म का क्षयोपशम करनेवाले में ही होने से। कार्य, कारण को छोड़ अन्यत्र नहीं हो सकता है।

5. नमस्कार करने वाले का है–करनेवाले के परिणामस्वरूप होने से।

शब्द आदि नयों का उत्तर

शब्द आदि नयों के मत से नमस्कार का उपयोगरूप ज्ञान ही नमस्कार है। लेकिन शब्द और क्रिया नमस्कार नहीं हैं। ये नय सिर्फ

ज्ञानवादी होने से श्री जिनेश्वर देव या उनकी प्रतिमादि का नमस्कार है, ऐसे विशेषकर मानते नहीं है। सिर्फ तदुपयोगवान् पूजक का ही नमस्कार है, ऐसा वे स्वीकार करते हैं।

3. साधन

'नमस्कार का साधन क्या है?' अथवा **'नमस्कार कैसे प्राप्त होता है?'** यह प्ररूपणा का तीसरा द्वार है। इसका उत्तर यह है कि नमस्कारावरणीय कर्म के क्षयोपशम से नमस्कार प्राप्त होता है। यह क्षयोपशम निसर्ग से भी प्राप्त होता है और अधिगम से भी प्राप्त हो सकता है।

प्रश्न–नमस्कारावरणीय कर्म का अर्थ क्या है?

उत्तर–नमस्कार को रोकने वाले कर्म मतिज्ञानावरण, श्रुतज्ञानावरण और दर्शन मोहनीय हैं। इन्हीं को नमस्कारावरणीय कर्म कहा जाता है। इस कर्म के स्पर्द्धक (रस–विशेष) दो प्रकार के हैं–1. सर्वघाती, 2. देशघाती। सर्वघाती स्पर्द्धक सर्वथा नष्ट होने चाहिए। देशघाती स्पर्द्धकों में भी उदित का क्षय और अनुदित का उपशम होने से क्रम से विशुद्धि होने पर **'न'** कारादि अक्षरों की प्राप्ति होती है और अधिक विशुद्धि होने पर समस्त नवकार की प्राप्ति होती है।

नमस्कार स्वयं श्रुतरूप है, श्रुत मतिपूर्वक होता है और दोनों सम्यग्दृष्टि को ही होते हैं। इसलिए जब नमस्कार का ज्ञान होता है, तब एक साथ मतिज्ञान, श्रतिज्ञान और सम्यक्त्व का लाभ होता है।

4. अधिकरण

'अधिकरण' यानी स्थान। नमस्कार को रहने का स्थान कहाँ? **'अधिकरणद्वार'** को शास्त्रीय परिभाषा में **'कस्मिन्द्वार'** भी कहा जाता है। इस विषय में भी नैगम आदि नयों के स्वामित्वद्वार की तरह ही भिन्न–भिन्न अभिप्राय हैं। नैगम तथा व्यवहार नयों के अनुसार जीव–अजीव आदि (पूज्य और पूज्यों की प्रतिमाएँ आदि) सर्व में नमस्कार रह सकता है, इसलिए पूज्य में नमस्कार रहता है, यह मानने में कोई बाधा नहीं हो सकती।

संग्रहनय सिर्फ सामान्यमात्रग्राही होने से नमस्कार को अविशिष्ट सामान्य आधार में मानता है। अथवा इस नय से **'जीव ही नमस्कार है'** ऐसी समानाधिकरण की मान्यता होने से **'जीव में नमस्कार'** ऐसा भिन्न आधार कै–व्यधिकरण समास उसे मान्य नहीं है। अशुद्धतर संग्रह नय **'जीव में नमस्कार'** को मानता है, लेकिन जीव को छोड़कर अन्य में तो वह भी नहीं मानता है।

ऋजुसूत्रनय नमस्कार को कर्ता से भिन्न (अर्थातर) नहीं मानता है। गुण गुणी के बाहर होता ही नहीं, बल्कि गुणी के अंदर ही होता है, अन्यथा संकर आदि दोषों की प्राप्ति होती है। ऋजुसूत्र नय भिन्न आधार को मानता है, लेकिन वह द्रव्यों के विषय में मानता है, गुणों के बारे में नहीं। यह बात ऊपर स्पष्ट हो चुकी है। गुण के बारे में तो वह गुण–गुणी का भिन्न अधिकरण स्वीकार ही नहीं करता है।

शब्द आदि नय ज्ञान को ही नमस्कार के रूप में स्वीकार करनेवाले होने से और शब्दक्रियात्मक नमस्कार को नमस्कार रूप में स्वीकार न करने वाले होने से वे नमस्कार करने वाले से बाह्य अधिकरण में नमस्कार को मानते ही नहीं हैं।

शंका–तो फिर ऋजुसूत्र नय और नयों की मान्यता में क्या भेद है?

समाधान–ऋजुसूत्र नय क्रिया रुप और शब्दरूप को भी नमस्कार मानता है, इसलिए उसके मत से नमस्कार करने वाले के शरीर में भी नमस्कार है। शब्द आदि नय नमस्कार को उपयोग रूप में ही मानते हैं। इसलिए उनके मत से नमस्कार शरीर के अंदर नहीं, बल्कि जीव के अंदर ही रहता है।

5. स्थिति

यहाँ **'स्थिति'** का अर्थ काल है। नमस्कार का काल कितना? इसका उत्तर यह है कि उपयोग की अपेक्षा नमस्कार की स्थिति (जघन्य या उत्कृष्ट) अन्तर्मुहूर्त ही है। लब्धि की अपेक्षा जघन्य स्थिति अंतर्मुहूर्त और उत्कृष्ट स्थिति 66 सागरोपम से कुछ अधिक है।

6. विधान

विधान यानी प्रकार । नमस्कार के प्रकार कितने है ? इसका उत्तर यह है कि नमस्कार श्री अरिहंतादि पाँच प्रकार से है, क्योंकि श्री अरिहंतादि पाँच पदार्थ हैं । उनमें से प्रत्येक के प्रारंभ में **'नमः'** यह एक ही पद होते हुए भी पाँच प्रकार के पदार्थो में उस पद का उपयोग होने से उसके प्रकार भी पाँच बन जाते हैं । श्री अरिहंतादि पाँचों पदार्थों का निरुपण बाद में विस्तार से किया जाएगा ।

नौ प्रकार से प्ररुपणा

उपर्युक्त छह प्रकारों के बाद आठ प्रकारों से तथा नौ प्रकारों से भी नमस्कार की प्ररुपणा हो सकती है ।

1. सत्पदप्ररुपणा

सत् यानी विद्यमान । नमस्कार विद्यमान है । वह अविद्यमान नहीं है । गति इंद्रियाँ आदि मार्गणाओं में कौन–कौन सी मार्गणाओं में वह किस–किस रीति से विद्यमान है, इसका विचार करना प्रथम सत्पदप्ररुपणा का विषय है । जैसे–चारों गतियों में नमस्कार के पूर्व–प्रतिपन्न अवश्य होते है और प्रतिपद्यमान (वर्तमान में पाने वाले) की भजना होती है । इस प्रकार इंद्रियादि मार्गणाओं में भी नमस्कार की विद्यमानता–अविद्यमानता का विचार करना सत्पदप्ररुपणा द्वार है ।

2. संख्या

नमस्कार कितनी संख्या में है, इस पर विचार करना संख्या प्ररुपणा द्वार का विषय है । जैसे–प्रतिपद्यमान (पाने वाला) जघन्य रूप में एक, दो या तीन और उत्कृष्ट रूप में क्षेत्रपल्योपम के असंख्य भाग के प्रदेश राशिप्रमाण होते है । पूर्वप्रतिपन्न (प्राप्त किये हुए) जघन्य से सूक्ष्म क्षेत्रपल्योपम के असंख्यातवें भाग के राशिप्रमाण और उत्कृष्ट से विशेषाधिक होते हैं ।

3. क्षेत्र

क्षेत्रप्ररुपणा द्वार में नमस्कारवान् जीव ऊपर अनुत्तर विमान में

जाते हुए लोक के सात भाग प्रमाण क्षेत्र में होते हैं और नीचे छठी नरक पृथ्वी में जाते हुए लोक के पाँच भाग प्रमाण क्षेत्र में होते हैं ।

4. स्पर्श

स्पर्शनप्ररुपणा द्वार में क्षेत्र की अपेक्षा स्पर्शना कुछ अधिक समझनी चाहिए । जैसे–एक परमाणु का क्षेत्र एक आकाशप्रदेश और स्पर्शना सात आकाशप्रदेश । इसी तरह से सर्वत्र समझना चाहिए ।

5. काल

कालप्ररुपणा द्वार में एक जीव की अपेक्षा जघन्य रूप में अंतर्मुहूर्त और उत्कृष्ट रूप में अपार्धपुद्गल परावर्त । अनेक जीवों की अपेक्षा सर्वकाल ।

6. अंतर

अंतरप्ररूपणा द्वार में अनेक जीवों की अपेक्षा कोई अंतर नहीं है । एक जीव की अपेक्षा जघन्य अंतर्मुहूर्त और उत्कृष्ट अपार्धपुद्गलपरावर्त ।

7. भाव

भाव प्ररुपणा द्वार में क्षायोपशमिक, औपशमिक, और क्षायिक इन तीन भावों से नमस्कार होता है, शेष भावों में नहीं होता ।

8. भाग

भागप्ररुपणा द्वार में सभी जीवों के अनंतवें भाग जीव नमस्कार को पाए हुए होते हैं, अर्थात् पाए हुए की तुलना में नहीं पाए हुए अनंतगुणा होते हैं ।

9. अल्पबहुत्व

अल्पबहुत्व प्ररुपणा द्वार में नमस्कार को पाए हुए उपशम भाव वाले बहुत अल्प होते हैं, क्षयोपशमभाव वाले उससे विशेष होते हैं और क्षायिक भाववाले सिद्धों की अपेक्षा सबसे अधिक होते हैं । संसारी जीवों की अपेक्षा क्षायिक भाववालों की तुलना में क्षयोपशम भाववाले अधिक होते हैं । इस संबन्ध में विचार करना यह अंतिम अल्पबहुत्व प्ररुपणा द्वार है । और भी अनेक प्रकार से प्ररुपणा की जाती है । जैसे–

संहिता च पदं चैव, पदार्थः पदविग्रहः ।
चालना प्रत्यवस्थानं, व्याख्या तन्त्रस्य षड्विधा ।।

अर्थात् **''संहिता, पद, पदार्थ, पदविग्रह (समास), शंका, प्रत्यवस्थान (समाधान) ये छह सूत्री व्याख्या के अंग हैं ।''** अथवा आरोपणा (अवधारण), भजना (विकल्पना), पृच्छना (प्रश्न), दापना (उत्तर) और निर्यापना (निगम) इन पाँच प्रकार से भी प्ररुपणा हो सकती है ।

प्रकृति, अकार, नोकर और नोकार–अकार उभय, इन चार प्रकारों से भी प्ररुपणा होती है । जैसे, **'नमस्कार के परिणाम से परिणत सम्यग्दृष्टि जीव'** नमस्कार है, यह प्रकृति प्ररुपणा कहलाएगी । इसके विपरीत **'आत्मा नवकार नहीं है ।'** यह निषेधवाचक अकार से प्ररुपणा हुई । इसी प्रकार प्रकृति को नोकार और नो–अकार लगाकर भी प्ररुपणा हो सकती है । नोकार में **'नो'** का अर्थ देशनिषेध भी होता है और सर्वनिषेध भी होता है । जहाँ सर्वनिषेध अर्थ में प्रयुक्त हो, वहाँ प्रथम–द्वितीय भंग तुल्य होता है; यहाँ देशनिषेध अर्थ में प्रयुक्त हो, वहाँ दोनों का अर्थ नमस्कार का एकदेश (अंश) होता है ।

पंच परमेष्ठी–नमस्कार के हेतु

श्री अरिहंत आदि पाँच परमेष्ठी–नमस्कार की पाँच वस्तुएँ हैं। इन पाँच वस्तुओं को नमस्कार करने के लिए पाँच हेतु हैं। मार्ग, अविप्रणाश, आचार, विनय और सहायता इन पाँच कारणों की प्राप्ति के लिए पाँचों को नमस्कार करना है। कहा है कि–

मग्गो अविप्पणासो, आयारो विणयया सहायत्तं।
पंचविह नमोक्कारं, करेमि एएहिं हेऊहिं।

अर्थ :– मार्ग, अविप्रणाश, आचार, विनय और सहायता इन पाँच कारणों से मैं पाँच प्रकार का नमस्कार करता हूँ।

पाँच हेतुओं में पहला मार्ग हेतु है। संसार रुपी जंगल में मार्गदर्शक श्री अरिहंत परमात्मा होने से, उनके इस मार्गदर्शक गुण को लेकर वे नमस्कार करने योग्य हैं। कहा है कि–

1. श्री अरिहंत परमात्मा

अडवीए देसियत्तं, तहेव निज्जामया समुद्दंमि।
छक्कायरक्खणट्ठा, महगोवा तेण वुच्चंति॥

संसाररूपी जंगल (भवाटवी) में मार्गदर्शक होने से, भवसागर में नाविक होने से तथा भव वन में भटकने वाले जीवों की रक्षा के लिए महागोप होने से श्री अरिहंत देव महामार्गदर्शक (सार्थवाह), महानाविक (निर्यामक) और महागोप कहलाते हैं। श्री अरिहंत देवों का यह महान् उपकार है।

मार्गदर्शक (सार्थवाह)

श्री अरिहंतदेव रूपी मार्गदर्शक भव्य आत्मारूपी मुसाफिरों को धर्मकथारूपी उद्घोषणा द्वारा, साधुमार्ग और श्रावकमार्गरूपी सरल और कठिन मार्ग से इप्सितपुर मुक्तिनगर में ले जाते हैं। वे मार्गदर्शक (नेता) संसाररूपी जंगल (भवाटवी) में राग–द्वेष रूपी श्वापदों से रक्षा करते हैं, क्रोध आदि कषायों रूपी दावाग्नि आदि के भय से भव्य आत्माओं को

बचाते हैं, विषय रूपी विषम फलों का आस्वाद लेने में निमग्न आत्माओं को उससे छुड़ाकर परिणाम में हितकर होने वाले तपसंयमादि रूपी हितकर फलों का आस्वाद लेनेवाले बनाते हैं, बाईस परिषहों रूपी पिशाचों से रक्षा करते हैं, पासत्था आदि अकल्याणकारी लुटेरों की लूट से छुड़ाते हैं और नित्योद्यमरूपी अप्रमादी प्रयाण द्वारा ज्ञानरुपी अश्व और ध्यानरूपी हाथी जोड़े हुए पाँच प्रकारों के स्वाध्यायरूपी रथ में बिठाकर निर्विघ्न रूप से मोक्षपुरी की प्राप्ति करा देते हैं ।

निर्यामक

श्री अरिहंत देव भवसागर को पार कराने के लिए निर्यामक हैं । समुद्र में जैसे अनुकूल–प्रतिकूल अनेक प्रकार का पवन होता है, वैसे भवसमुद्र में भी मिथ्यात्वरूपी प्रतिकूल पवन और सम्यक्त्वरूपी अनुकूल वायु बहता है । श्री अरिहंत देवरूपी निपुण नाविक मिथ्यात्वरूपी प्रतिकूल वायु से बचाकर, सम्यक्त्वरूपी अनुकूल वायु के सहारे भव्यजीव रूपी नौकाओं को यथावस्थित ज्ञानरूपी कर्णधार द्वारा भयंकर भव–संसार रूप सागर को पार कराकर ईप्सित स्थान रुपी मोक्ष बंदरगाह में पहुँचा देते हैं ।

महागोप

गोपालक जैसे सभी जंगली जानवरों से गायों की रक्षा करते हैं और प्रचुर घास–पानी देकर उनका पोषण करते हैं, वैसे ही षड् जीवकाय रूपी गायों को श्री अरिहंत परमात्मारूपी रक्षक व्याधि, जरा (बुढ़ापा), मृत्यु आदि शिकारी प्राणियों से रक्षा कर निविर्घ्न रूप से निर्वाणपथ पर पहुँचा देते हैं ।

इस प्रकार सभी अरिहंत देव मार्गदर्शक, नाविक तथा महागोप की तरह कार्य करनेवाले होने से जीव–लोक में महा उपकारी हैं और इसीलिए वे लोकोत्तम महापुरुष भी कहलाते हैं ।

राग–द्वेषादि को झुकाने वाले

मार्गदर्शन के गुण द्वारा श्री अरिहंतदेव जैसे जगत् के जीवों के

उपकारी हैं, वैसे राग–द्वेष तथा कषाय, इंद्रिय, परिषह और उपसार्गों को झुकानेवाले होने से जीवलोक के लिए नमस्कार करने योग्य हैं ।

उनमें सबसे पहले राग है–यह नाम आदि चार प्रकार का होता है–नामराग, स्थापनाराग, द्रव्यराग, भावराग । नामराग और स्थापनाराग को समझना आसान है । द्रव्यराग दो प्रकार का होता है । एक आगम से और दूसरा नो आगम से । आगम से द्रव्य राग, राग पदार्थ को जाननेवाली अनुपयुक्त आत्मा ।

नोआगम से द्रव्यराग के तीन प्रकार हैं–1. ज्ञशरीर, 2. भव्यशरीर, 3. तद्व्यतिरिक्त ।

ज्ञशरीर और भव्य शरीर जानने के लिए सुगम हैं । व्यतिरिक्त के दो प्रकार होते हैं–1. कर्म द्रव्यराग, 2. नोकर्म द्रव्यराग । कर्म द्रव्यराग यानी राग वेदनीय कर्म के पुद्गल । उसके चार प्रकार हैं 1. योग्य (बंध परिणामाभिमुख) 2. बध्यमानक (बंध परिणाम प्राप्त), 3. बद्ध (निवृत्त बंध परिणाम अर्थात् जीव के साथ आत्मसात् हुआ), 4. उदीरणावलिकाप्राप्त (उदीरणाकरण द्वारा खींचकर उदीरणा की पंक्ति में लाए हुए ।)

नोकर्मद्रव्य राग यानी राग वेदनीय कर्म के पुद्गलों को एकदेश अथवा तदन्य । तदन्य के दो प्रकार हैं–1. प्रायोगिक, 2. वैस्त्रसिक । कुसुम्भरागादि प्रायोगिक हैं और संध्याभ्ररागादि वैस्त्रसिक हैं ।

भावराग

भावराग के दो प्रकार हैं–1. आगम से, 2. नोआगम से । रागपदार्थज्ञ उपयुक्त आत्मा आगम से भावराग है और नोआगम से भावराग रागवेदनीय–कर्मोदयप्रभव-परिणामविशेष है । उसके दो प्रकार हैं–1. प्रशस्त, 2. अप्रशस्त ।

अप्रशस्त परिणाम के तीन प्रकार हैं–1. दृष्टिराग (स्वदर्शनानुराग), 2. शब्दादिविषयक राग–काम राग, 3. विषयादि निमित्त के बिना ही अविनम्र अविनीत पुत्र आदि विषयक राग–स्नेहराग । प्रशस्त राग इससे

विपरीत है । अरिहंत, सिद्ध, साधु, एवं ब्रह्मचारी आदि के बारे में सरागी आत्माओं के मन में जो राग होता है, वह प्रशस्त भावराग है । इन दोनों प्रकार के प्रशस्त–अप्रशस्त, अथवा द्रव्य–भाव राग को झुकानेवाले अर्थात् दूर करनेवाले श्री अरिहंतदेव हैं ।

द्वेष को झुकाने वाले

राग की तरह द्वेष भी चार प्रकार का होता है; उनमें नाम, स्थापना सुगम हैं । नोआगम से द्रव्यद्वेष, भव्य और तद्व्यतिरिक्त इन तीन प्रकारों का होता है । तद्व्यतिरिक्त के कर्मद्रव्यद्वेष और नोकर्मद्रव्यद्वेष ये दो भेद हैं ।

कर्मद्रव्य द्वेष के चार प्रकार हैं–1. योग्य, 2. बध्यमानक, 3. बद्ध और 4. उदीरणावलिका प्राप्त ।

नोकर्मद्रव्यद्वेष के दुष्ट व्रणादि अनेक प्रकार हैं । भावद्वेष यानी द्वेषमोहनीय कर्म का विपाक । वह दो प्रकार का है–प्रशस्त, अप्रशस्त । अज्ञान, अविरति, मिथ्यात्व आदि विषयक द्वेष प्रशस्त है और सम्यक्त्व, विरति, ज्ञान आदि विषयक द्वेष अप्रशस्त है ।

कषाय को झुकाने वाले

कषाय चार प्रकार के होते हैं–क्रोध, मान, माया और लोभ । उनमें संग्रहनय के अनुसार क्रोध और मान अप्रीतिरूप होने से द्वेष में अंतर्भूत होते हैं और माया तथा लोभ प्रीतिरूप होने से राग के अंतर्गत आते हैं ।

व्यवहारनय के अनुराग क्रोध, मान और माया ये तीनों द्वेष हैं, क्योंकि माया भी परोपघात के लिए प्रवृत्त होनेवाली होने से अप्रीतिरूप है । व्यवहारनय के अनुसार लोभ, राग है ।

ऋजुसूत्रनय के मत से क्रोध भी अरिप्रीतिरूप होने से द्वेष है । मान, माया और लोभ प्रीति–अप्रीति उभय विषयक होने से राग–द्वेष उभय रूप हैं । जैसे, मान स्व-अहंकार विषयक होता है, तब वह राग है, और परगुण द्वेष विषयक होता है, तब द्वेष है । इसी प्रकार माया, लोभ

आदि के बारे में भी समझना चाहिए । अर्थात् आत्मा के बारे में जहाँ मूर्च्छा की प्रधानता होती है वहाँ ये तीनों राग बनते हैं और जहाँ परोपघात की प्रधानता होती है, वहाँ ये तीनों द्वेष बनते हैं ।

शब्द आदि तीन नयों के मत से मान और माया स्वगुणोपकारक मूर्च्छात्मक होने से लोभस्वरूप अर्थात् रागस्वरूप ही हैं और स्वगुणोपकार रहित वे ही मानादि के अंश हैं और क्रोध परोपघातात्मक होने से द्वेष है ।

इंद्रियों को झुकानेवाले

'इन्द्रस्य लिंगम् इंद्रियम् ।' इंद्र यानी जीव, उसका लिंग यानी चिह्न । अर्थात् जीव का परिचय कराने वाली । अथवा, **इंद्रेण दृष्टं सृष्टं च ।** यह भी इंद्रिय शब्द की व्युत्पत्ति है । आवरण का अभाव होने से सभी वस्तुओं को जाना जा सकता है, वैसे ही नानाविध भवों में भ्रमण करने से सभी वस्तुओं का उपभोग भी उसे होता है । इससे ऐसा जीव परमैश्वर्यवान् कहलाता है । इस परमैश्वर्य के कारण और सर्वोपलब्धि के उपभोग का संबन्ध होने से जीव को इंद्र कहा जाता है । उसका लिंग अथवा चिह्न इंद्रियाँ हैं । अथवा दूसरे शब्दों में जीव द्वारा देखी गई या सृजन की गई इंद्रिय है । उसके भी चार प्रकार होते हैं, उनमें नाम और स्थापना सुगम हैं ।

द्रव्येंद्रिय

द्रव्येंद्रिय के दो भेद हैं–1. निवृत्ति, 2. उपकरण । निवृत्ति के भी दो भेद है 1. बाह्य, 2. अभ्यतंर । बाह्य निर्वृत्ति अनेक प्रकार की होती है, अभ्यतंर निर्वृत्ति सबकी समान होती है ।

अभ्यंतर निर्वृत्ति रूप श्रोतेन्द्रिय सबकी कदंब जाति के पुष्प के समान होती है ।

चक्षुरिन्द्रिय मांस के गोले जैसी या मसूर की दाल जैसी होती है ।

घ्राणेन्द्रिय अतिमुक्तक के पुष्प जैसी होती है ।

रसनेंद्रिय खुरपे अर्थात् अस्त्रे की धार जैसी होती है । और

स्पर्शेंद्रिय सबके शरीर की आकृति के अनुसार विविध प्रकार की होती है ।

आंतरनिर्वृत्ति इंद्रिय की शक्ति उपकरणेंद्रिय है । वात–पित्त आदि दोष के कारण उसकी शक्ति का नाश हो जाए तो आंतरनिर्वृत्ति इंद्रिय के होते हुए भी शब्दादि विषयों का ग्रहण नहीं हो सकता है ।

भावेंद्रिय

भावेंद्रिय दो प्रकार की होती है–1. लब्धिस्वरूप, 2. उपयोगस्वरूप । इंद्रियावरण कर्मों का क्षयोपशम लब्धि इंद्रिय है और शब्दादि विषयों में इंद्रियों का होने वाला परिच्छेद (ज्ञान) उपयोग इंद्रिय है । लब्धि इंद्रिय होने पर ही द्रव्येंद्रिय प्राप्त होती है ।

उपयोग–इंद्रिय की दृष्टि से देखा जाए तो सभी जीव एकेंद्रिय हैं, क्योंकि एक समय में किसी को दो इंद्रियों का उपयोग नहीं हो सकता है ।

लब्धिइंद्रिय की दृष्टि से सभी जीव पंचेंद्रिय हैं, क्योंकि बकुलादि वनस्पतियों में अन्य इंद्रियों की भी प्राप्ति होती है ।

जीवों का एकेंद्रिय आदि व्यवहार द्रव्येंद्रियों की दृष्टि से होता है ।

बाह्येंद्रियरहित होते हुए भी लब्धि इंद्रियों के रूप में सभी जीव पंचेंद्रिय होते हें । कारण यह है कि बकुल आदि वनस्पतियों में पाँचों इंद्रियों का क्षयोपशम प्रत्यक्ष होता है । उसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है–

श्रृंगारयुक्त सुंदर स्त्री मदिरा का कुल्ला करे या अपने शरीर से स्पर्श करे अथवा होठों से चुंबन करे तो बकुल वृक्ष फलित होता है । उसी प्रकार चंदन आदि की गंध, सुंदर रूप के दर्शन या मधुर शब्दों के श्रवण से भी वह फूलता–फलता है ।

सुगंधित जल के सिंचन से चंपा का वृक्ष पुष्पित होता है ।

तिलक वृक्ष स्त्री के कटाक्षों से अंकुरित होता है ।

विहरक वृक्ष में पंचम स्वर को सुनकर पुष्प अंकुरादि का उद्‌गम होता है ।

इन्द्रियों की प्राप्ति का क्रम

सबसे पहले लब्धि-इन्द्रियाँ प्राप्त होती हैं, फिर द्रव्येन्द्रियों की प्राप्ति होती है । द्रव्येंद्रियों में पहले बाह्य तथा आंतरनिर्वृत्ति इंद्रियाँ

मिलती हैं, फिर आंतरनिर्वृत्ति इंद्रियों की शक्तिरूप उपकरणेंद्रियाँ प्राप्त होती हैं और अंत में इंद्रियार्थ परिच्छेद अर्थात इन्द्रियों के विषय का अवबोध–ज्ञान होता है ।

परिषहों को झुकानेवाले

मार्ग पर स्थिर होने के लिए और विशेष निर्जरा करने के लिए जो सहन कहने योग्य है, वे क्षुधा, तृषा, शीत, उष्ण आदि बाईस परिषह हैं, उन्हें श्री अरिहंतदेव झुकाते हैं, अर्थात् उन्हें सम्यक् प्रकार से सहन करते हैं ।

उपसर्गों को झुकाने वाले

पीड़ा प्राप्त होना या जिनके कारण पीड़ा प्राप्त होती है, वे उपसर्ग हैं ।

उपसर्ग चार प्रकार के होते हैं–1. देवताओं से होने वाले, 2. मनुष्यों से होने वाले, 3. तिर्यंचों से होने वाले, 4. आत्मसंवेदनीय ।

उनमें देवताओं की ओर से होनेवाले उपसर्ग, राग, द्वेष या परीक्षा के निमित्त से अथवा इन तीनों के निमित्त से होते हैं ।

मनुष्यों की ओर से भी राग, द्वेष और परीक्षा के अतिरिक्त कुशील प्रतिसेवन के कारण उपसर्ग होते हैं ।

तिर्यंचों की ओर से होनेवाले उपसर्गों के कारण हैं–भय, द्वेष, आहार और संरक्षण निमित्त ।

आत्मसंवेदनीय उपसर्ग चार प्रकार से होते हैं–1. नेत्र में पड़े हुए कणों का चुभना ,2. अंगो का स्तंभित/निर्जीव होना, 3. गड्ढ़े आदि में गिर जाना, 4. बाहु आदि का आपस में टकराना । इन सभी प्रकार के उपसर्गों को भी अरिहंत झुकाते हैं, अपने वश में करते हैं, उनका समूल नाश कर देते हैं । कहा है कि–

रागद्दोसकसाए, इंदियाणि अ पंचवि ।
परिसहे उवसग्गे, नामयंता नमोऽरिहा ।।

राग, द्वेष, कषाय, पाँच इंद्रिय, परिषह तथा उपसर्गों को श्री अरिहंत देव झुका देते हैं । इसलिए वे नमस्कार योग्य हैं । फिर कहा है कि–

इंदियविसयकसाये, परिसहे वेयणाउवसग्गे,
एए अरिणो हन्ता, अरिहंता तेण वुच्चंति ।।

इंद्रियाँ, विषय, कषाय, परिषह, वेदनाएँ और उपसर्ग ये शत्रु हैं । इनका हनन करनेवाले होने से **'श्री अरिहंत'** कहलाते हैं ।

अथवा वंदन, नमस्कार, पूजा, सत्कार और सिद्धगमन के योग्य होने से अर्हंत कहलाते हैं । अथवा देव, असुर और मनुष्यों द्वारा उत्तमोत्तम पूजा के पात्र होने से तथा क्रोधादि शत्रुओं और बध्यमान कर्मरूपी रज और बद्धकर्मरूपी मल का हनन करनेवाले होने से **'अरिहंत'** कहलाते हैं ।

इन अरिहंतों को किया गया नमस्कार जीव को हजारों भवों–जन्मों से छुड़ाता है और भावपूर्वक किया गया यह नमस्कार बोधि अर्थात् जिनधर्म की प्राप्ति के लिए होता है । अरिहंतों को किया गया नमस्कार धन्य पुरुषों के लिए भवभ्रमण का क्षय करनेवाला और हृदय में होने वाली विश्रोतसिका (दुर्ध्यान) का हनन करनेवाला होता है । इस प्रकार **'अरिहंत'** को किया गया नमस्कार महाअर्थवान् होने की बात जिनागमों में बताई गई है । मृत्यु के समय अन्य सभी कार्यों का त्याग कर कीमतीरत्न की तरह उसी को ग्रहण किया जाता है । अथवा किसी भी आपत्ति में श्री अरिहंत नमस्कार का बार–बार और निरंतर स्मरण किया जाता है । श्री अरिहंतों को किया गया नमस्कार सभी पापों का नाश करनेवाला है, इतना ही नहीं, बल्कि वह सभी मंगलों में प्रथम मंगल है । यही तथ्य शास्त्रों में निम्नलिखित शब्दों में कहा गया है–

अरिहंत नमुक्कारो, जीव मोयेइ भवसहस्साओ ।
भावेण कीरमाणो, होइ पुणो बोहिलाभाए ।।1।।

इस गाथा में नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव इन चारों प्रकारों के नमस्कार का वर्णन है । जैसे–

1. **'नमुक्कार'** शब्द द्वारा नाम नमस्कार है ।

2. **'अरिहंत'** शब्द से **'अर्हदाकारवाली बुद्धि'** यह स्थापना नमस्कार है ।

3. **'कीरमाणो'** शब्द से अंजलिग्रहणादि द्रव्य नमस्कार है ।

4. **'भावेण'** शब्द द्वारा नमस्कार है ।

इस प्रकार एक ही गाथा में नाम नमस्कार, स्थापना नमस्कार, द्रव्य नमस्कार और भाव नमस्कार इन चारों प्रकारों से किए जाने वाले नमस्कार का वर्णन है ।

'अरिहंत नमुक्कारो, धन्नाणं भवक्खयं कुणंताणं ।
हियय अणुम्मयंतो, विसुत्तियावारओ होइ ।।2।।'

हृदय में होने वाला अर्हन्नमस्कार ज्ञानादि धनवाले, पस्तिसंसारी और अतिक्षीण कर्मों वाले (प्रतनुकर्मवान) जीवों के पुनर्भव का क्षय करने वाला और चित्त का विस्त्रोतगमन (दुर्ध्यान) निवारण करने वाला होता है ।

''अरिहंत नमुक्कारो, एस खलु वन्निओ महत्थोति ।
जो मरणंति उवग्गे, अभिक्खयं कीरइ बहुसो ।।3।।''

अर्हन्नमस्कार महान् अर्थ वाला है–मृत्यु समीप आने पर निरंतर बार–बार किया जाता है और बड़ी आपत्ति में द्वादशांगी को छोड़कर उसका ही ध्यान और स्मरण किया जाता है ।

अग्नि आदि के भय के समय जैसे घर में रही अन्य सभी वस्तुओं को छोड़कर महामूल्यवान रत्नों को ग्रहण किया जाता है, अथवा, युद्ध में अतिशय आपत्ति के समय अन्य शस्त्रों को छोड़कर अमोघ शस्त्र को ही ग्रहण किया जाता है, वैसे ही मृत्यु आदि के महाभय के समय द्वादशांग शास्त्रों को छोड़कर सिर्फ एक अरिहंत नमस्कार को ही ग्रहण किया जाता है, क्योंकि यह नमस्कार द्वादशांगार्थ है ।

प्रश्न–अरिहंत नमस्कार द्वादशांग कैसे है?

उत्तर–द्वादशांगी परिणामविशुद्धि में हेतुभूत है, और वही कार्य

नमस्कार भी करता है । दोनों से एक ही कार्य सिद्ध होता है, इसलिए नमस्कार भी द्वादशांगार्थ है, ऐसा कहा जाता है ।

अथवा– वीतराग सिद्धांत में एक भी पद, जो संवेग को उत्पन्न करनेवाला और मोहजाल को छेदनेवाला होता है, वह निश्चय से द्वादशांगार्थ माना गया है ।

नमस्कार अनेक पदों का होते हुए भी व्यवहार से एक पद कहलाता है । उपर्युक्त न्याय से द्वादशांगी जो गणिपिटक–गणधरों की पेटी(संदूक) कहलाती है, उसके अर्थस्वरूप होने से अतिनिर्जरा के लिए होता है । इसलिए उसे महाअर्थवान् कहा जाता है, इसी कारण अर्हन्नमस्कार निरंतर और बार–बार किया जाता है ।

अरिहंतनमुक्कारो, सव्वपावप्पणासणो ।
मंगलाणं च सव्वेसिं, पढमं हवइ मंगलं ।।44।।

अर्हन्नमस्कार सभी पापों का नाश करनेवाला है और सभी मंगलों में प्रथम मंगलभूत है । यहाँ **'पाप'** शब्द की व्युत्पत्ति तीन प्रकार से होती है–जो जीव को मलिन करे, जो जीव के हित को सोख ले अथवा जो जीव को संसार में रखे, वह पाप कहलाता है । तत्त्वतः आठ कर्म ही पाप हैं । अर्हन्नमस्कार इन सभी पापों का नाश करता है, इतना ही नहीं, बल्कि नाम आदि सभी मंगलों में अर्हन्नमस्कार प्रथम है, मोक्षरूपी मुख्य पुरुषार्थ को साधनेवाला होने से प्रधान है । श्री अरिहंत आदि पाँच भाव मंगलों में प्रथम भाव मंगल है । प्रधानतया परोपकार साधक होने से अर्हन्नमस्कार प्रथम अर्थात् मुख्य मंगल है ।

2. श्री सिद्ध परमात्मा

'नमस्कार' की दूसरी वस्तु श्री सिद्ध परमात्मा है । **'अविप्रणाश'** गुण के कारण वे नमस्करणीय हैं । सिद्ध आत्माएँ अनेक प्रकार की होती हैं । कहा है कि–

कम्मे सिप्पे अ विज्जा य, मंते जोगे अ आगमे ।
अत्थ–जत्ता–अभिप्पाए, तवे कम्मक्खए इय ।।1।।

कर्मसिद्ध, शिल्पसिद्ध, विद्यासिद्ध, मंत्रसिद्ध, योगसिद्ध, आगमसिद्ध (चौदह पूर्वधर), अर्थसिद्ध (मम्मणसेठ), यात्रासिद्ध, अभिप्रायसिद्ध (अभयकुमार), तथा तपसिद्ध, (दृढ़प्रहारी) और कर्मक्षयसिद्ध इस प्रकार अनेक प्रकार के सिद्ध होते है ।

उनमें कर्म सिद्धादि का यहाँ प्रयोजन नहीं हैं, सिर्फ कर्मक्षय सिद्ध का ही प्रयोजन है । ज्ञानावरणीय आदि आठों कर्मों का समूल उन्मूलन करने वाली आत्मा **'कर्मक्षयसिद्ध'** कहलाती है । कहा है कि–

दीहकालरयं जंतु कम्मं से सियमट्ठहा ।
सियं धंतं ति सिद्धस्स, सिद्धत्तमुवजायइ ।।1।।

दीर्घकाल से उपार्जित किए आठ प्रकार के कर्मों को जला डालने वाली आत्मा सिद्धत्व प्राप्त करती है ।

ध्मातं सितं येन पुराण कर्म, यो वा गतो निर्वृतिसौधमूर्ध्नि ।
ख्यातोऽनुशास्ता परिनिष्ठितार्थो, यः सोऽस्तु सिद्धः
कृतमंगलो मे ।।1।।

पहले के बंधे हुए कर्मों को जिन्होंने जला दिया है, अथवा **जो निवृत्तिरूपी प्रासाद के शिखर पर आरूढ़ हुए हैं** अथवा **जो अनुशासक के रूप में प्रसिद्ध हुए हैं,** अथवा **जिनके सब प्रयोजन सिद्ध हुए हैं, ऐसे सिद्ध परमात्मा मेरे लिए मंगलभूत हों ।**

श्री सिद्धों का लक्षण बताते हुए शास्त्रकार महर्षि कहते हैं–

असरीरा जीवघणा, उवउत्ता दंसणे अ नाणे अ ।
सागारमणागारं, लक्खणमेअं तु सिद्धाणं ।।1।।
केवलनाणुवउत्ता, जाणंता सव्वभावगुणभावे ।
पासंति सव्वओ खलु, केवलदिट्ठीहिऽणंताहिं ।।2।।
नाणंमि दंसणंमि अ, इत्तो एगयरंमि उवउत्ता ।
सव्वस्स केवलिस्स, जुगवं दो नत्थि उवओगा ।।3।।

शरीर से रहित, जीव के प्रदेशों द्वारा घन, दर्शन और ज्ञान में उपयुक्त, साकार और निराकार, यह सिद्धों का लक्षण है ।

केवलज्ञान में उपयुक्त होने से सभी भावों के गुणपर्यायों को जानते हैं और उन्हें ही अनंत केवलदृष्टि के द्वारा देखते हैं ।

वे प्रतिसमय ज्ञानोपयोग या दर्शनोपयोग में उपयुक्त होते हैं, क्योंकि सभी केवल–ज्ञानी भगवंतों को एक समय में दो उपयोग नहीं होते हैं ।

सिद्ध परमात्मा के स्वरूप का वर्णन करते हुए ज्ञानी महर्षि बताते है कि–

''अव्याबाधता को प्राप्त हुए सिद्धात्माओं को जो सुख होता है, वह न मनुष्यों को होता है, न किसी प्रकार के देवताओं को होता है । समस्त देवगणों के सुख को सभी कालों और प्रदेशों का अनंतगुणा किया जाए और उसे अनंतानंत वर्गों से गुणा किया जाए तो भी वह मुक्तिसुख की तुलना में नहीं आ सकता है । एक सिद्ध जीव का सर्व काल का सुख एकत्र किया जाए और उसे अनंत भागों से भाग दिया जाए, तो वह पूरे आकाशप्रदेश में नहीं समा सकेगा । अर्थात् सभी आकाशप्रदेशों की संख्या की तुलना में सिद्ध जीव का सुख अनंतगुणा होता है ।'

जैसे कोई गँवार मनुष्य अनेक प्रकार के नगर–गुणों को जानते हुए भी उपमा के अभाव में उन्हें कह नहीं सकता, वैसे सिद्धों के सुख की कोई उपमा न होने से उसे कहा नहीं जा सकता । फिर भी कुछ समझ में आए इस दृष्टि से शास्त्रों में बताया गया है कि **'जैसे कोई पुरुष सभी इच्छाओं को पूर्ण करने वाले अमृततुल्य भोजन का भक्षण कर क्षुधा और तृषा से मुक्त होकर अत्यंत तृप्ति के सुख का अनुभव करता है, वैसे अतुलनीय निर्वाण सुख को पाई हुई सिद्धात्माएँ सभी कालों में तृप्त होती है और शाश्वत तथा अव्याबाध सुख को पाई हुई होने से हरदम सुखी रहती हैं ।'**

श्री सिद्धात्माएँ सभी कर्मों से मुक्त होने से **'सिद्ध'** हैं । अज्ञान निद्रा से प्रसुप्त इस जगत् में परोपदेश के बिना जीव आदि तत्त्वों को जाननेवाली होने से सिद्धात्माएँ **'बुद्ध'** हैं ।

संसार के अथवा सर्व प्रयोजन समूह को पार किए हुए होने से वे **'पारगत'** हैं ।

अनुक्रम से चौदहवे गुणस्थानक पर आरुढ़ होकर अथवा सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र का क्रम से आसेवन कर मुक्तिस्थान को पाई हुई होने से वे **'परंपरगत'** हैं ।

वे कर्मकवध से उन्मुक्त हैं और अजर, अमर, असंग हैं । अर्थात् श्री सिद्धों की आत्माएँ सभी प्रकार के दुःखों से रहित होती है; वे जन्म, जरा, मरण आदि बंधनों से मुक्त हैं और सदाकाल शाश्वत और अव्याबाध सुख का अनुभव करती है । ऐसे सिद्धों को किए गए नमस्कार का फल बताते हुए निर्युक्तिकार भगवान् **श्री भद्रबाहु स्वामीजी** कहते हैं कि–

सिद्धाणं नमुक्कारो, जीवं मोएइ भवसहस्साओ ।
भावेण कीरमाणो, होइ पुणो बोहिलाभाए ।।1।।
सिद्धाणं नमुक्कारो, धन्नाणं भवक्खयं कुणंताणं ।
हिअयं अणुम्मुयंतो, विसोत्तियावारओ होइ ।।2।।
सिद्धाणं नमुक्कारो, एस खलु वन्निओ महत्थोति ।
जो मरणम्मि उवग्गे, अभिक्खणं कीरइ बहुसो ।।3।।
सिद्धाणं नमुक्कारो, सव्वपावप्पणासणो ।
मंगलाणं च सव्वेसिं, पढमं हवइ मंगलं ।।4।।

अर्थ :– सिद्ध परमात्मा को किया गया नमस्कार जीव को हजारों भवों से बचाता है । भावपूर्वक किया जाने वाला यह नमस्कार बोधिलाभ के लिए होता है । (1)

सिद्धों को किया गया नमस्कार धन्यपुरुषों के भवों का क्षय करता है । उनका हृदय में अनुस्मरण करने से दुर्ध्यान का नाश होता है । (2)

सिद्धों को किया गया नमस्कार सचमुच महाअर्थयुक्त बताया है, जो मृत्यु के समय निरंतर और बार–बार स्मरण किया जाता है । (3)

सिद्धों को किया गया नमस्कार सभी पापों का सर्वथा नाश करने वाला है और सभी मंगलों में प्रथम मंगल है । (4)

3. आचार्य भगवंत

आचार्य चार प्रकार के होते हैं–1. नाम आचार्य. 2. स्थापना आचार्य, 3. द्रव्य आचार्य और 4. भाव आचार्य । इनमें से नाम और स्थापना सुगम हैं । द्रव्याचार्य शिल्पकला आदि शास्त्रों को सिखानेवाले होते हैं और भावाचार्य पाँच प्रकार के आचारों का पालन करने वाले, कराने वाले और उसका उपदेश देने वाले होते हैं ।

ज्ञान आदि पाँच प्रकार के भावाचारों में उपयुक्त होने से वे भावाचार्य कहलाते हैं ऐसे भावाचार्यों को किया गया नमस्कार पूर्वसंचित पापों का विनाश करनेवाला होता है । भावाचार्य जिनशासन के आधार होते हैं, चतुर्विध संघ को उल्लसित करने वाले होते हैं और श्रुतज्ञान के बल पर सकल वस्तुओं पर प्रकाश डालने वाले होते हैं ।

जिनेश्वर देव मुक्तिमार्ग बताकर मुक्ति में चले जाते हैं । उनके बाद निर्ग्रंथ प्रवचन का धारण, पालन और पोषण करने वाले आचार्य भगवंत ही होते हैं ।

सूत्रों में भावाचार्यों को श्री जिनेश्वर समान कहा गया है और उनकी आज्ञा को जिनाज्ञा के समान पालन करने का आदेश दिया गया है ।

भावाचार्यों की आज्ञा के बिना विद्या या मंत्र फलता नहीं है, लेकिन वही विद्या और मंत्र उनकी आज्ञा से तत्काल फलदायी होते हैं ।

धर्मोपदेश देने में वे निरंतर उद्यत रहते है और सूरि, गणधर, गणी, गच्छधर, अनूचान, प्रवचनधर, भट्टारक, भगवान्, महामुनि, सद्गुरु, श्रुतधर आदि दिव्य नाम धारण करते हैं । ऐसे आचार्यों को किया गया नमस्कार भी अरिहंत और सिद्ध परमात्मा को किए गए नमस्कार की तरह अचिन्त्य फल देनेवाला होता है ।

आचार्य नमस्कार का वर्णन करते हुए निर्युक्तिकार भगवान् कहते हैं कि–

``आयरियनमुक्कारो, जीवं मोयेइ भवसहस्साओ ।
भावेण कीरमाणो, होइ पुणो बोहिलाभाए ।।1।।

आयरियनमुक्कारो, धन्नाणं भवक्खयं कुणंताणं ।
हिअयं अणुम्मुयंतो, विसोत्तियावारओ होइ ।।2।।
आयरियनमुक्कारो, एस खलु वन्निओ महत्थोति ।
जो मरणम्मि उवग्गे, अभिक्खणं कीरइ बहुसो ।।3।।
आयरियनमुक्कारो,सव्वपावप्पणासणो ।
मंगलाणं च सव्वेसिं, पढमं हवइ मंगलं ।।4।।''

अर्थ :– आचार्य भगवंतों को किया गया नमस्कार जीव को हजारों भवों से छुड़ाता है और भावपूर्वक किया जाने वाला वह बोधिलाभ के लिए होता है । (1)

आचार्य को नमस्कार धन्य पुरुषों के लिए भवों का क्षय करानेवाला होता है और उसका हृदय में किया गया चिंतन चित्त के दुर्ध्यान का निवारण करता है । (2)

इस तरह आचार्य–नमस्कार महाअर्थयुक्त माना गया है, उसे मृत्यु के समय निरंतर और बार–बार किया जाता है । (3)

आचार्य–नमस्कार सभी पापों का नाश करनेवाला और सभी मंगलों का मूल है । (4)

4. उपाध्याय भगवंत

उपाध्याय का नाम **'उवज्झाय'** अथवा **'उज्झाय'** भी है । जिनके पास शिष्य द्वादशांग–सूत्रों का अध्ययन करते हैं, वे उपाध्याय हैं । द्वादशांग स्वाध्याय करण में उपयुक्त, पाप का त्याग करनेवाले, ध्यान के उपयोग में तल्लीन और कर्मों का विनाश करने में उद्यम करने वाले **'उवज्झाय'** कहलाते हैं ।

'उज्झाय' शब्द का भी उपयोग करण तथा ध्यान के निर्देश में प्रयोग किया गया है । अर्थात् उपाध्याय भगवन्त सदा उपयोगवाले और ध्यानी होते हैं । उसी तरह उपाध्याय भगवंत आचार्य पद के लिए योग्य होते हैं, गुरु के सभी गुणों से शोभित होते है और ग्यारह अंगो तथा बारह

उपांगों के अध्ययन आदि और (चरणसित्तरी तथा करणसित्तरी) का पालन करने वाले होने से निरंतर पच्चीस गुणों से युक्त होते हैं ।

उपाध्याय वाचक, पाठक, अध्यापक, श्रुतवृद्ध, शिक्षक, स्थविर, अप्रमादी, सदा निर्विषादी, अद्वयानंदी आदि उत्तम नामों को धारण करनेवाले होते हैं ।

निरंतर जिनाज्ञा का प्रतिपालन करने वाले और अनगिनत गुणों से विभूषित होते हैं । ऐसे पूज्य उपाध्याय भगवंतों को किया गया नमस्कार हृदय के दुर्ध्यान को दूर कर डालता है और सभी मनोवांछित सुखों को प्राप्त करानेवाला होता है ।

उपाध्याय नमस्कार के संबन्ध में निर्युक्तिकार भगवान् भद्रबाहु स्वामी जी महाराज कहते हैं कि–

``उवज्झाय-नमुक्कारो, जीवं मोएइ भवसहस्साओ ।
भावेण कीरमाणो, होइ पुणो बोहिलाभाए ।।1।।
उवज्झाय-नमुक्कारो, धन्नाणं भवक्खयं कुणंताणं ।
हिअयं अणुम्मुयंतो, विसोत्तियावारओ होइ ।।2।।
उवज्झाय-नमुक्कारो, एस खलु वन्निओ महत्थोति ।
जो मरणम्मि उवग्गे, अभिक्खणं कीरइ बहुसो ।।3।।
उवज्झाय-नमुक्कारो,सव्वपावप्पणासणो ।
मंगलाणं च सव्वेसिं, पढमं हवइ मंगलं ।।4।।''

अर्थ :– उपाध्याय–नमस्कार जीव को हजारों भवों से छुड़ाता है और भावपूर्वक किया गया नमस्कार बोधिलाभ के लिए होता है । (1)

उपाध्यायों को नमस्कार धन्यपुरुषों की दृष्टि से भवक्षय के लिए होता है और हृदय में अनुस्मरण करने से वह दुर्ध्यान का निवारण करने वाला है । (2)

यह उपाध्याय–नमस्कार महाअर्थवान् है, ऐसा वर्णन किया गया है । यह नमस्कार मृत्यु के समय निरंतर और बार–बार किया जाता है । (3)

उपाध्याय नमस्कार सभी पापों का नाश करनेवाला है और सभी मंगलों में प्रथम मंगल है । (4)

साधु भगवंत

निर्वाणसाधक योगों की साधना करनेवाले होने से और सभी प्राणियों के विषय में आत्मसमान बुद्धि को धारण करनेवाले होने से साधु भगवंत भावसाधु कहलाते हैं । वे विषयसुख से निवृत्त होते हैं, विशुद्ध चारित्र और नियमों को धारण करनेवाले होते हैं ।

तात्त्विक गुणों को सिद्ध करने वाले होते हैं, वे अन्य मुक्तिसाधक पुरुषों को उनकी साधना में सहायता करनेवाले होते हैं, लोकसंज्ञा का त्याग करनेवाले, क्षमा आदि दस प्रकार का धर्म धारण करनेवाले और लाभालाभ, मानापमान और कांचन तथा पत्थर को समान माननेवाले होते हैं । वे गुरु आज्ञापालन में तत्पर, प्रायश्चित्त आदि पानी से पापमल को साफ करनेवाले, निरंतर शुद्ध स्वाध्याय करने में तल्लीन और भ्रमरों की तरह भिक्षा माँगने में उद्युक्त होनेवाले साधु भगवंत जंगम तीर्थ हैं ।

श्री साधु भगवंतो के बारे में षट्शास्त्रवेत्ता, परमोपकारी उपाध्यायजी श्री **यशो विजयजी** महाराज **श्री पंचपरमेष्ठी गीता** में कहते हैं कि–

''क्लेशनाशिनी देशना, देत गणे न प्रयास,
असंदीन जिम द्वीप, तथा भविजन आश्वास,
तरण तारण करुणापर, जंगम तीरथ सार,
धन धन साधु सुहंकर, गुण–महिमा भंडार ।''

निरंतर धर्मोपदेश देने में जो परिश्रम को नहीं गिनते है । भव्य आत्माओं को आश्रय लेने के लिए जो स्थिर द्वीप हैं, वे स्वयं तैरते हैं और दुसरों को तारने में तत्पर होते हैं, ऐसे करुणा से भरपूर सुखकर साधु पुरुष निरंतर करुणा तत्पर होने से और गुणों तथा महिमा के भंडार होने से जंगम तीर्थतुल्य हैं और जगत् में बार–बार धन्यवाद के पात्र होते हैं ।

इन साधु भगवंतों के अनेक पवित्र नाम हैं, उनमें से कई अति प्रसिद्ध हैं और कई अप्रसिद्ध हैं । जैसे–मुनि, भिक्षु, संन्यासी, निर्ग्रंथ,

शांत, दान्त, क्षान्त, महाव्रतधर, अणगार, योगी, तत्त्वज्ञ, वाचंयम, ऋषि, दीक्षित, अकिंचन, श्रमण ये उनके प्रसिद्ध नाम हैं । सर्वंसह, समतामय, निष्प्रतिकर्मशरीर, गुप्तेन्द्रिय, आत्मोपासी, मुक्त, माहण, महात्मा, अवधूत, शुद्धलेशी, अशरणशरण, अध्यात्मधाम, ऊर्ध्वरेता, अनुभवी, तारक, महाशय, भदंत, मोहजयी, गोप्ता, पंडित, विचक्षण आदि उनके अप्रसिद्ध नाम हैं । इस प्रकार के मंगल नाम धारण करने वाले तथा निष्कलंक जीवन जीनेवाले गुणसमुद्र साधु भगवंतों को किया गया नमस्कार भी आचार्य भगवंतों तथा उपाध्याय भगवंतों के किए गए नमस्कार के समान फलदायक होता है ।

इसी को बताते हुए निर्युक्तिकार भगवान् भद्रबाहुस्वामीजी महाराज कहते हैं–

साहूण नमुक्कारो, जीवं मोएइ भवसहस्साओ ।
भावेण कीरमाणो, होइ पुणो बोहिलाभाए ।।1।।
साहूण नमुक्कारो, धन्नाणं भवक्खयं कुणंताणं ।
हिअयं अणुम्मुयंतो, विसोत्तिआवारओ होइ ।।2।।
साहूण नमुक्कारो, एस खलु वन्निओ महत्थोति ।
जो मरणंमि उवग्गे, अभिक्खणं कीरइ बहुसो ।।3।।
साहूण नमुक्कारो, सव्वपाप्पणासणो ।
मंगलाणं च सव्वेसिं, पढमं हवइ मंगलं ।।4।।

अर्थ :– भाव सहित किया गया साधु–नमस्कार जीव को हजारों भवों से मुक्त कराता है और वह बोधिलाभ के लिए होता है । (1)

साधु–नमस्कार धन्य आत्माओं के भवों का क्षय करता है और हृदय में होनेवाली विस्रोतसिका का भी हरण करता है । (2)

यह साधु–नमस्कार महाअर्थवान् है, ऐसा शास्त्र में वर्णन किया गया है, मृत्यु के समय पर उसका स्मरण निरंतर और बार–बार कराया जाता है । (3)

साधु–नमस्कार सभी पापों का नाश करनेवाला है और सभी मंगलों में प्रथम मंगल है । (4)

8 नमस्कार का प्रयोजन और फल

कर्म का क्षय और मंगल का आगमन यह नमस्कार का प्रयोजन है। नमस्कार का फल दो प्रकार का है, इहलोक संबन्धी और परलोक संबन्धी।

इहलोक में अर्थ, काम, स्वास्थ्य और अभिरति की प्राप्ति और परलोक में सिद्धि, स्वर्ग, उत्तम कुल और जिन–प्रणीत धर्म की प्राप्ति आदि फल हैं।

नमस्कार संबन्धी निरंतर उपयोग और क्रिया द्वारा कर्मक्षय आदि गुणों का लाभ होता है। यह अनंतर प्रयोजन है और उसके परिणामस्वरूप कालान्तर अथवा जन्मातंर में अर्थ–कामादि अथवा स्वर्ग–मोक्षादि की प्राप्ति यह परंपर प्रयोजन है।

नमस्कार श्रुत यानी आगम रूप है। श्रुतोपयोगरूप आत्म–परिणाम से आत्महित परिज्ञा और भावसंवर आदि अनेक प्रकार के लाभ मिलते हैं। अतः श्रुतात्मक नमस्कार के उपयोग से कर्मक्षय होता है। इस रीति से नमस्कार के उपयोग से प्रतिसमय कर्म का क्षय होता जाता है, इससे उसे सभी कार्यों में मंगलरूप और विघ्नविनाश के अप्रतिम कारण के रूप में माना गया है।

प्रश्न 1–कोप व प्रसाद से रहित अरिहंत या सिद्ध पूजा का फल देने वाले नहीं हैं, क्योंकि जो पूजा का फल देनेवाले होते हैं, वे हरदम राजा आदि की तरह कोप व प्रसाद सहित ही देखे जाते हैं।

उत्तर–अरिहंत अथवा सिद्ध पूजा का फल देते हैं, ऐसा हम कहते ही नहीं हैं। सभी जीवों को स्वर्ग–नरक अथवा सुख–दुःख आदि का फल अपने किए हुए पुण्य या पाप के बल से ही मिलते हैं। पुण्य–पाप या धर्म–अधर्म ये ज्ञान आदि की तरह आत्मा के गुण हैं, ये गुण किसी को दिए जाने या किसी से लेने की बात संभव नहीं है।

आत्मगुण भी यदि दिये या लिये जा सकते हों तो कृतनाश, अकृतागम, सांकर्य, एकत्व आदि अनेक दोष आकर खड़े हो जाते हैं। इसलिए नमस्कार का मुख्य फल अव्याबाध सुखरूप मोक्ष है और स्वर्ग आदि उसके आनुषंगिक फल हैं। उसमें मोक्ष रूप मुख्य फल चैतन्य आदि भावों की तरह आत्मपर्याय रूप होने से किसी को दिये जा सकें या किसी से लिये जा सके ऐसा संभव नहीं है।

प्रश्न 2 –मुख्य फलरूप मोक्ष भले ही आत्मपर्याय होने से लिया–दिया नहीं जा सकता हो, लेकिन सुंदर भक्त–पान आदि और मनोहर अर्थ–काम आदि तो दूसरे को दिये जा सकने या दूसरे से लिये जा सकने योग्य हैं, तो उन्हें अरिहंत या सिद्ध किस प्रकार देते है?

उत्तर–अर्थ–काम आदि अथवा भक्त–पान आदि दूसरे को दिये जाने योग्य हैं, लेकिन पूजा का प्रयत्न भक्त–पान आदि के लिए नहीं होता, बल्कि मोक्षप्राप्ति के लिए ही होता है। अथवा भक्त–पान आदि जो भी प्राप्त होते हैं, वे स्वकृत कर्म के उदय से ही प्राप्त होते हैं। दूसरा दाता तो इसमें निमित्त मात्र होता है।

निश्चय रूप से न कोई किसी का दाता है, न अपहरण कर्ता है। सुख–दुःख आदि का अंतरंग हेतु कर्म ही है। शरीर बाह्य हेतु है, शब्दादि विषय तो उससे भी अधिक बाह्य हेतु हैं और उन्हें देने–लेने वाले अर्थात् दाता–अपहर्तादि तो अतिशय बाह्यतर हेतु हैं। इसलिए यह निश्चित है कि कर्म के सिवाय सुख–दुःख के जो निमित्त माने गए हैं, वे तो कर्म के कारण ही सिर्फ व्यवहार से माने गए हैं तो फिर राग–द्वेष रहित सिद्धात्माएँ नमस्कार के फल को देने वाली होती हैं, यह कहा ही कैसे जा सकता है?

प्रश्न 3 – यदि सर्व शुभाशुभ फल स्वकृत कर्मजनित ही हैं, तो दान–अपहरणादि का फल दाता–हर्ता को नहीं मिलना चाहिए।

उत्तर–कर्म स्वकृत होता है, इसलिए उसका फल दाता–हर्ता को मिलता है। दान देते समय परानुग्रह परिणाम और हरण करते

समय परोपघात आदि परिणाम ये ही पुण्य–पाप के कारण बनते हैं । ये पुण्य–पाप बाह्य निमित्त की अपेक्षा रखते हैं । किन्तु आत्मा में बाह्य निमित्त की अपेक्षा रखकर भी रहते हैं । कालान्तर में वे बाह्य निमित्त की अपेक्षा रखकर ही शुभाशुभ फल देते हैं । इसलिए वह फल परकृत कहलाता है । वस्तुतः स्वकृत कर्म के बिना दूसके से वह प्राप्त नहीं होता है ।

फिर यदि वह फल दूसरे से प्राप्त होने योग्य है, ऐसा माना जाए, तो जिसने ग्रहण या हरण किया, उसे मोक्ष या कुगति मिलेगी । उस समय वह फल किससे प्राप्त होगा ? अर्थात् यहाँ कृत नाश दोष आकर खड़ा होगा । जिसे जो दिया गया है, उसे वह देना चाहिए और जिसका हरण किया गया है वह उसका हरण करे, यह मान्यता अयोग्य है, युक्तिसंगत नहीं है । ऐसा माना जाए तो फिर दान आदि न देनेवाले साधु को जन्मातंर में भूखा रहना पड़ेगा और यदि खुद को ही भूखा रहना पड़ता है, तो पूर्वजन्म में देनेवाले दाता को वह कहाँ से दे सकेगा ? उसी प्रकार पूर्व जन्म में किसी का धन आदि हरण कर वर्तमान जन्म में निर्धन हुई आत्मा धनरहित होने से पूर्वभव के धनवान द्वारा उससे किस प्रकार हरण करा सकेगी ?

प्रश्न 4– तो क्या अन्य–अन्य जन्मों के दानहरणादि से सब कुछ हो जाएगा ?

उत्तर–यह कहना भी गलत है । ऐसा मानने से अनवस्था और स्वर्ग–मुक्ति आदि फलों का अभाव हो जाएगा ?

वस्तुतः दान देनेवाली या लेनेवाली आत्मा अपने अनुग्रह–उपघात रूपी परिणाम से जैसे स्वयं फल पाती है, वैसे यहाँ भी सिद्धों तथा अरिहंतों की पूजा का फल पूजक को अपने परिणामों से स्वयं प्राप्त होता है । जिननमस्कार और जिनपूजा परिणाम की विशुद्धि का हेतु होने से दानादि धर्मों की तरह निरंतर करने योग्य है, अथवा जिननमस्कार और जिनपूजा मोक्षमार्ग की प्रभावक होने से धर्मकथन की तरह हरदम करने योग्य है ।

कोप–प्रसाद रहित वस्तु फलदायक नहीं होती यह कहना भी सत्य नहीं है । अन्न, पान आदि वस्तुएँ कोपप्रसाद रहित होने पर भी प्रत्यक्षतः फलदायक दिखाई देती हैं । अमृत–विष, कनक–पत्थर, मणि–काँच आदि वस्तुएँ भी कोपादि रहित हैं, फिर भी वे अनुग्रह और उपघात के लिए होती हैं ।

प्रश्न 4– कोप आदि हरण–प्रदान आदि के निमित्त हैं या नहीं?

उत्तर–निमित्त होते हुए भी वे बाह्य कारण हैं । अंतरंग कारण तो स्वकृत पुण्य, पाप आदि के सिवाय कुछ नहीं है । राजा आदि का कोप और प्रसन्नता भी स्वकृत पुण्य–पाप के ही फल हैं, क्योंकि क्रुद्ध या प्रसन्न हुआ राजा भी सभी लोगों के लिए समान फल देने वाला नहीं होता है । कभी वह विषम फल देने वाला होता है, तो कभी निष्फल भी जाता है ।

इसीलिए अरिहंतादि को किया गया नमस्कार या अरिहंतादि की पूजा किसी को प्रसन्न करने के लिए नहीं, बल्कि पूजक के चित्त की प्रसन्नता के लिए होती है । दूसरा प्रसन्न होगा तो धर्म होगा और दूसरा क्रुद्ध होगा तो अधर्म होगा, ऐसा नियम नहीं है । धर्म–अधर्म जीव के शुभाशुभ परिणाम का अनुसरण करनेवाला होता है । अरिहंतादि का आलंबन शुभ परिणाम का जनक है, शुभ परिणाम से धर्म होता है और धर्म से भक्त–पान, अर्थ–काम, स्वर्ग–अपवर्ग आदि फलों की प्राप्ति होती है ।

प्रश्न 6– धर्म–अधर्म दूसरों की प्रसन्नता या क्रोध का अनुसरण करनेवाले नहीं हैं, यह बात सत्य न हो, तो जगत् में दूसरों को प्रसन्न करने के लिए जो प्रयत्न किए जाते हैं, वे क्यों?

उत्तर–जगत् में सुखी होने के लिए दूसरों की प्रसन्नता आदि को आधार बनाया जाता है । लेकिन वह अनेकांतिक है । इतना ही नहीं, बल्कि वह स्वकृत पुण्य–पाप के अनुसार ही फल देनेवाला होता है । अगर यह न माना जाए, और दूसरों के कोप–प्रसाद पर ही धर्म–अधर्म मान लिया जाए, तो राग–द्वेषादि मुनि की स्तुति आदि करने से पुण्यात्मा

के लिए धर्म नहीं होगा और आक्रोशादि करने से दुष्टात्मा के लिए अधर्म नहीं होगा । कारण यह है कि राग–द्वेषरहित मुनि को न स्तुति सुनने से प्रसन्नता होती है, न आक्रोश सुनने से क्रोध आता है ।

फिर हिंसा, झूठ, चोरी, परदारागमन आदि कार्यों का कोई चित्त में ही चिंतन करे, तो उसे उसका खराब फल नहीं मिलना चाहिए । उसी प्रकार दया, दान, ब्रह्मचर्यादि धर्म करने की इच्छा जिसके मन में होगी, उसे उसका शुभ फल भी नहीं मिलना चाहिए । कारण, शुभ या अशुभ कार्यों का चित्त में सिर्फ चिंतन करने से, जिन–जिन व्यक्तियों के बारे में शुभ या अशुभ चिंतन हुआ हो, उन व्यक्तियों को न क्रोध आता है, न प्रसन्नता होती है ।

लेकिन हिंसा आदि का चिंतन करनेवाले को अधर्म और दया आदि का चिंतन करनेवाले को धर्म होता ही है, इसलिए परप्रसाद या परकोप से ही धर्म–अधर्म होता है, यह मानना ठीक नहीं है, किंतु स्वप्रसाद और स्वकोप से ही धर्म–अधर्म होता है, यह मानना युक्त है ।

ऐसा न माना जाए तो एक तीसरा दोष आता है । परप्रसाद या परकोप से ही धर्म–अधर्म होता हो, तो दया, दान, ब्रह्मचर्य आदि धर्मकृत्य करनेवालों पर भी दुर्जन आत्माएँ कोप करती हैं, इसलिए उनका धर्म निष्फल जाना चाहिए ।

उसी प्रकार हिंसा, झूठ, चोरी आदि अधर्म कार्य करनेवालों को देख कर भी उसी प्रकार की आत्माओं को आनंद मिलता है, तो उनके आनंद से उन्हें अधर्म नहीं होना चाहिए, बल्कि धर्म होना चाहिए । इतना ही नहीं, बल्कि यदि दूसरों के कोप से अधर्म होता हो, तो मोक्ष पाई हुई आत्माओं का भी किसी के कोप से पतन हो जाना चाहिए और यदि ऐसा हो जाए तो अकृतागम, कृतनाश आदि असाधरण दोष सामने आएंगे ।

इन कारणों का विचार करते हुए धर्मार्थी आत्माओं को अपनी प्रसन्नता–स्वप्रसाद के लिए ही प्रयत्न करना चाहिए । यह स्वप्रसाद अरिहंत और सिद्ध आदि की पूजा से अवश्य प्राप्त होता है । स्वप्रसाद का फल अप्रमेय होता है, इसलिए उसे पाने की दृष्टि से अरिहंत आदि की पूजा का प्रयत्न परम आवश्यक है ।

प्रश्न 7– अरिहंत परमात्मा और सिद्ध परमात्मा वीतराग और कृतार्थ होने से उनकी पूजा उचित है, लेकिन शेष आचार्यादि तीन(आचार्य, उपाध्याय, साधु) तो राग–द्वेष सहित और अकृतार्थ हैं, इससे उनकी पूजा या उनको किया गया नमस्कार स्वप्रसाद या मोक्ष के लिए कैसे होगा? धन का इच्छुक निर्धन की सेवा करे तो वह कैसे फलेगा?

उत्तर–वीतराग जैसे राग–द्वेष रहित हैं, वैसे आचार्य आदि भी विद्यामान कषायों पर नियंत्रण करनेवाले हैं, इसलिए वे भी वीतराग के समान हैं। वीतराग जैसे कृतकृत्य होते हैं, वैसे आचार्य आदि भी बहुत अंश में कृतकृत्य होते हैं। इसलिए उनकी पूजा भी वीतराग–पूजा की तरह चित्त की प्रसन्नता का कारण है।

पूजा का आरंभ दूसरे के उपकार के लिए नहीं होता है और दूसरे के उपकार से पूजा का फल भी नहीं मिलता है, बल्कि वह स्वप्रसाद से ही मिलता है। आचार्य आदि किंचित् अकृतार्थ होते हुए भी, स्वप्रसाद अर्थात् स्वपरिणाम की विशुद्धि के लिए होते हैं, इसलिए वे भी वीतराग की तरह पूज्य हैं।

प्रश्न 8– पूज्य पर उपकार का अभाव होते हुए भी पूज्य की पूजा फलदायी कैसे होती है?

उत्तर–पूज्य पर उपकार का अभाव होने पर भी अरिहंत आदि की पूजा ब्रह्मचर्यादि के समान शुभ क्रिया और शुभ परिणाम की वृद्धि का हेतु है, इसलिए वह फलदायी है। पर हृदयगत मैत्री तद्विषयक जीवों का क्या उपकार करती है और दूरस्थ आत्माओं के बारे में हुआ हिंसा आदि का संकल्प दूर रहनेवाली आत्मा पर क्या अपकार कर सकता है? अर्थात् कुछ भी नहीं। फिर भी वह उपकार–अपकार रहित मैत्री, हिंसा आदि का संकल्प धर्म–अधर्म का कारण बनता ही है। उसी प्रकार पूजा आदि का संकल्प भी अरिहंत आदि का उपकार करने वाला न होन पर भी धर्म का कारण बनता है।

प्रश्न 9– साधु आदि को जो दान दिया जाता है, उससे जो स्वपर दोनों का उपकार होता है, वैसा उपकार श्री जिनपूजा आदि

से नहीं होता है । फिर भी जिनपूजा की अपेक्षा साधु आदि को किए दान से अधिक फल की प्राप्ति क्यों नहीं होती ?

उत्तर–साधु आदि को दिए दान में दानकृत उपकार–अपकार से फल की प्राप्ति नहीं होती, बल्कि परानुग्रह संकल्प मात्र से दाता को फल की प्राप्ति होती है । अन्यथा साधु आदि को भोजन कराने के बाद अजीर्ण आदि से उसकी मृत्यु हो, तो उसका दोष भी दाता को लगना चाहिए ।

पूज्य द्वारा पूजा का ग्रहण होने पर ही धर्म होगा ऐसा नियम नहीं है, पूज्य की पूजा से होने वाली परिणाम विशुद्धि से धर्म होता है । पूजा का ग्रहण न हो, तो भी यह विशुद्धि अवश्य होती है, अथवा जिन आदि की की गई पूजा ग्रहण भी वे करते हैं, क्योंकि संप्रदान तीन प्रकार से होता है, अतः ग्रहण भी तीन प्रकार से होता है । प्रेरक, अनुमोदक और अनिषेधक ये तीनों अलग–अलग दृष्टि से दान को ग्रहण करनेवाले होते हैं, इसलिए जिन आदि अनिषेधक होने से उनकी पूजा का अग्रहण ही होता है, ऐसा नहीं है । अथवा जिनादि की पूजा से श्रद्धा, संवेग और परिणाम की विशुद्धि होती हो, तो वह पूजा परिगृहीत है या अपरिगृहीत है, यह चर्चा ही अनावश्यक बन जाती है ।

प्रश्न 10– सिद्ध आदि की पूजा का फल नहीं हो सकता, क्योंकि वे अमूर्त हैं, नेत्रों से नहीं देखे जा सकते तो फिर उनकी पूजा कैसे हो सकती है ?

उत्तर–सिद्ध परमात्मा मूर्तिरहित–अमूर्त हैं, इसीलिए वे विशेष रूप से पूज्य हैं । जैसे रत्नत्रयी अमूर्त है, फिर भी वह मोक्षमार्ग बन सकती है, उसी प्रकार सिद्ध परमात्माओं की पूजा आत्मा के लिए परम उपकारक होती है । मूर्तिमान की मूर्ति की पूजा नहीं होती, बल्कि उसके अमूर्त गुणों की ही पूजा होती है । श्री सिद्ध भगवंतों के गुण तो विशेष रूप से अमूर्त हैं, इसलिए वे विशेष रूप से पूज्य हैं ।

प्रश्न 11–मूर्तिमान के गुणों की पूजा तद्गुणसंबन्ध के कारण मूर्तिपूजा से हो सकती है, फिर सिद्ध परमात्माओं के गुणों की पूजा कैसे होगी ? उनकी तो कोई मूर्ति नहीं होती है ?

उत्तर–पूजा, मूर्ति अथवा गुणों से जो फल मिलता है, उसमें स्वगतपरिणाम की विशुद्धि को छोड़कर अन्य कोई हेतु नहीं होता है। बाह्य अरिहंत आदि आलंबनों के निमित्त से स्वहृदयगत जो शुभ परिणाम उत्पन्न होता है, वही सब फल देता है। इस परिणाम का संबंध मूर्ति के साथ नहीं, बल्कि अपनी आत्मा के साथ है, अतः मूर्त–अमूर्त की चिंता निरर्थक है।

प्रश्न 12– सिद्ध परमात्मा अत्यंत दूर हैं, फिर उनकी पूजा कैसे फलदायी हो सकती है?

उत्तर–जैसे दूर रहनेवाले बंधुजनों को सुखी अथवा दुःखी जानकर आनंद और शोक आदि संकल्प से देहपुष्टि और देहदौर्बल्य आदि फल मिलता है, वैसे दूर रहे सिद्धात्माएँ भी विशुद्ध परिणाम से धर्म के लिए और अशुद्ध परिणाम से अधर्म के लिए होती हैं। आलंबन निकट हो या दूर, उससे फल में कोई भेद नहीं पड़ता है। अथवा तद्गुण बहुमान रूपी शुभ परिणाम आत्मस्वभावरूप होने से निकट ही हैं और उनसे अन्य जो कोई वस्तुएँ हैं, वे अनात्मरूप होने से दूर ही हैं।

प्रश्न 13–जब स्वपरिणाम से ही धर्म–अधर्म होता है, तब फिर अरिहंत आदि बाह्य आलंबनों की क्या आवश्यकता है?

उत्तर–शुभ–अशुभ परिणाम बाह्य आलंबन से ही होते हैं। शुभ–अशुभ परिणाम चित्त का धर्म है, इसलिए वह विज्ञान की तरह हरदम बाह्य आलंबनों से ही होता है, इसलिए मोक्षमार्ग में बाह्य शुभ आलंबनों की परम आवश्यकता होती है।

प्रश्न 14–चाहे जैसे आलंबन से भी जिसे शुभ परिणाम मिल सकता है, उसे शुभ और अशुभ आलंबन जैसे भेद करने की क्या आवश्यकता है?

उत्तर–जैसे आलंबन के बिना शुभ परिणाम नहीं होता, वैसे विपरीत आलंबन से प्रायः शुभ परिणाम नहीं होता है। अन्यथा, नील आदि का शुक्ल आदि रूप में ज्ञान होना चाहिए।

प्रश्न 15–अज्ञानी और निःशील आत्मा को शुभ आलंबन रूप मुनिपने से भी शुभ परिणाम नहीं होता और अशुभ आलंबन रूप नास्तिकपने से भी उन्हें शुभ परिणाम होता जान पड़ता है, तो फिर शुभ–अशुभ आलंबनों का विचार करने से क्या लाभ?

उत्तर–अशुभ आलंबन से शुभ परिणाम और शुभ आलंबन से अशुभ परिणाम किसी विरल आत्मा को होता है। अतः यहाँ उसकी गिनती नहीं की गई है। अथवा, निःशील आत्मा को अशुभ आलंबन से होनेवाला शुभ परिणाम उन्मत्त आत्मा के परिणाम की तरह शुभ परिणाम ही नहीं है, क्योंकि वह विपर्यास से ग्रस्त है।

प्रश्न 16– मुनिवेश में होने वाले निःशील मुनि को दान देने वाला दाता जैसे स्वर्गादिफल पाता है, वैसे कुलिंगी को दान देने वाले दाता को मुनिदान का फल क्यों नहीं मिलता है?

उत्तर–मुनिलिंग यह गुणों का स्थान है। इसलिए वह गुणों से रहित हो, तो भी जब तक गुण रहित ज्ञात न हो, तब तक वह प्रतिमा की तरह पूज्य है। कुलिंग तो दोषों का आश्रय–स्थान होने से भी पूजा योग्य नहीं है।

प्रश्न 17– कुलिंग में भी यदि केवलज्ञान होता है, तो उसे दोष का आश्रयस्थान कैसे कहें?

उत्तर–केवलज्ञान भावलिंग से होता है, कुलिंग से नहीं होता। मुनिलिंग तो भावलिंग की तरह केवलज्ञान का अंग है, इसलिए पूज्य है।

शुभ आलंबन रूप अरिहंत तथा सिद्ध आदि की पूजा और नमस्कार उपर्युक्त कारणों से परिणाम विशुद्धि के प्रबल हेतु हैं। इसलिए उन्हें निरंतर करना चाहिए। अथवा अरिहंत आदि की पूजा भव्यात्माओं के लिए बोधिबीज का निमित्त होती है, इसलिए वह अवश्य आदरणीय है।

9 नवकार का उपधान

नमस्कार और नमस्कार्य का स्वरूप–

हर दर्शन में अपने–अपने दर्शन के प्रणेता महापुरुषों को नमस्कार करने का विधान है और उसे मंगल का हेतु माना है । अनुयायियों की ओर से भी उसका श्रद्धा के साथ आचरण किया जाता है ।

नमस्कार मन, वचन और काया की प्रशस्त और अनुकूल प्रवृत्ति है और इससे **'नमस्कार्य'** और **'नमस्कारकर्ता'** के बीच होनेवाला अंतर क्रमशः कम होता है । इसके परिणामस्वरूप नमस्कारकर्ता स्वयं नमस्कार्य बन जाता है । इसलिए वही नमस्कार मंगल का हेतु और सफल होता है, जो शुद्ध स्वरूपवाले नमस्कार्य को उस स्वरूप की प्राप्ति के लिए किया जाता है । इससे यह स्पष्ट होगा कि आत्मा की शुद्ध दशा को पाए हुए और पाने के लिए सतत प्रयत्नशील होनेवाले महापुरुष ही यदि नमस्कार्य का स्थान लें, तो ही उनको किया गया नमस्कार, करने वाले को मंगलरूप और सफलता देनेवाला होता है । इस दृष्टि से विचार करने पर जैनशासन में बताए गए परमपदों पर स्थित पाँच परमेष्ठियों को छोड़कर, अन्य किसी को किया गया नमस्कार, उनके समान एकांतिक और आत्यंतिक मंगल तथा कल्याणकारी होना संभव नहीं है ।

भाव से नमन कौन कर सकता है?

इन पाँच पदों की वस्तुएँ प्रवाह से शाश्वत हैं । इसलिए उनको प्रकट करनेवाले पाँच पद भी शाश्वत हैं । इन पंचपरमेष्ठियों को नमस्कार करने की योग्यता भी अतिशय लघुकर्मी आत्माओं को ही प्राप्त होती है । जिन आत्माओं की थोड़ी भी आत्मशुद्धि नहीं हुई है वे आत्माएँ परमशुद्ध आत्मदशा को प्राप्त आत्माओं को भाव से नमन कैसे कर सकती है?

वंदना की महत्ता

नमस्कार, नमस्कार्य के प्रति होनेवाले प्रेम और भक्ति का सूचक है । **'नमुत्थुणं'** सूत्र की व्याख्या करते हुए सुविहित शिरोमणि आचार्य भगवंत **श्रीमद् हरिभद्रसूरिजी** महाराज कहते हैं कि–

'धर्म प्रति मूलभूता वंदना ।'

धर्म की ओर आत्मा को आगे ले जाने के लिए, वंदना यह मूल है । अर्थात् शुद्ध स्वरूपवान् को वंदना करने से आत्मक्षेत्र में धर्मबीज बोया जाता है, अनुकूल सामग्री मिलने पर उसमें से धर्मचिंतारूप अंकुर, श्रुताभ्यास तथा सदाचरण रूप शाखा–प्रशाखाएँ और स्वर्ग–अपवर्ग की प्राप्ति रूप फूल और फल प्रकट होते हैं ।

सर्वप्रधान नमस्कार

वंदना का दूसरा पर्याय नमस्कार है । यह नमस्कार आशयशुद्धिपूर्वक किया जाए तो महत्वपूर्ण फल देता है । इसीलिए **'श्रीपंचपरमेष्ठी नमस्कार मंत्र'** को श्री जैनशासन में प्रधान स्थान दिया गया है । अनेक लोग उसे जैन जनता का **'गुरुमंत्र'** भी कहते हैं । और यह बात सच भी है,क्योंकि **'नमस्कार मंत्र'** से बड़ा मंत्र समस्त जिनप्रवचन में दूसरा कोई नहीं है । यह मंत्र सभी शास्त्रों के भीतर विद्यमान है । इसीलिए उसे नंदी आदि सूत्रों में पृथक् श्रुतस्कंध के रूप में वर्णन नहीं किया गया है ।

निर्युक्ति और व्याख्या

इसीलिए श्रुतकेवली भगवान् **श्री भद्रबाहुस्वामी** जी महाराज सबसे पहली निर्युक्ति श्री नमस्कार महामंत्र की ही लिखी है । उससे पहले या उसके बाद किसी भी सूत्र की व्याख्या करने से पहले नमस्कार मंत्र की ही व्याख्या सबसे पहले करने की शिष्ट परम्परा है ।

अमोघ अवलंबन

नमस्कार की एक विशेषता यह भी है कि सदा, सर्वकाल और सभी क्षेत्रों में उसका सूत्रपाठ एक जैसा होता है । अर्थात् सूत्र से भी उसमें हेरफेर नहीं होता है । इसलिए जन्मातंर में जातिस्मरणादि ज्ञान की प्राप्ति के लिए उसका अवलंबन अमोघ सिद्ध होता है ।

ज्ञाता-अज्ञाता दोनों को उपकारक

एक दृष्टि से बारह अंग और चौगह पूर्वों से भी श्री नमस्कार मंत्र

की महिमा अधिक है, क्योंकि प्राणान्त आपत्ति के समय चतुर्दश पूर्वधरों को भी जब अन्य शास्त्रों का स्मरण असंभव हो जाता है, उस समय आराधना में सहायक होनेवाला एक श्री नवकार मंत्र ही है ।

जब समर्थ श्रुतधरों को भी अंतिम समय में नवकार मंत्र ही सहायक होता है, तो फिर अन्य आत्माओं के बारे में तो कहना ही क्या ? इस प्रकार श्री नमस्कार मंत्र शास्त्रों के ज्ञानी और अज्ञानी दोनों को समान रूप से उपकारक होता है ।

उपधान तप की आवश्यकता

श्री नमस्कार मंत्र एक महाश्रुतस्कंध है । किसी भी श्रुत/ शास्त्र की योग्यता काल, विनय आदि श्रुत के आचारों को संभालने से ही प्राप्त होती है । योग्य समय में, विनय–बहुमानपूर्वक गुरु से छिपाए बिना सूत्र, अर्थ आदि की शुद्धिपूर्वक पठन किया हुआ हो, तो भी उस के योग्य उपधान न किया जाए तो वह संपूर्ण फल देनेवाला नहीं होता । इसलिए श्रुताचार के संपूर्ण पालनार्थ **'नमस्कार मंत्र'** का उपधान तप कराया जाता है ।

उपधान तप का विधान

'जिससे श्रुतज्ञान की पुष्टि हो, वह उपधान तप है ।' अथवा **'गुरु से नवकार आदि सूत्रों को धारण करने की क्रिया उपधान तप है'** यह उपधान किए बिना नमस्कार मंत्र का किया गया पठन अविधिपूर्वक होता है ।

श्रावकों को सभी सूत्र उपधान तप की आराधना के साथ सीखने चाहिए । इस बात पर **श्री महानिशीथ सूत्र** में बहुत भार दिया गया है । जैसे साधुओं के लिए योगोद्वहन के बिना सिद्धांतों का अध्ययन निषिद्ध है, वैसे श्रावकों के लिए भी उपधान तप के बिना नमस्कारादि सूत्रों का पठन या गिनना भी निषिद्ध है । श्री महानिशीथ सूत्र में इस संबंध में बताया गया है कि

''से भयवं सुदुक्करं पंचमंगलमहासुअखंधस्स विणओवहाणं पन्नत्तं, एसा निअंतणा कहं बालेहि किज्जइ ? गोयमा ! जेणं केणइ

न इच्छेज्जा एवं नियंतणं, अविणओवहाणेण पंचमंगलसुअनाणमहिज्ज्इ, अज्झावेइ वा, अज्झावयमाणस्य वाअणुन्नं पयाइ, से णं न भवेज्जा पिअधम्मे, न हवेज्जा दढधम्मे, न हवेज्जा भत्तिजुए, हीलिज्जा, सुत्तं, हीलिज्जा अत्थं, हीलिज्जा सुत्तत्थोभए, हिलिज्जा, गुरुं जंणं हीलिज्जा सुत्तं, जाव हीलिज्जा गुरुं से णं आसाएज्जा अतीताणागयवट्टमाणं तित्थयरे, आसाएज्जा आयरिअ उवज्झाय-साहुणो, जेणं आसाएज्जा सुअनाणमरिहंतसिद्धसाहू, तस्स णं अणंतसंसारिसागरमाहिंडेमाणस्स तासु तासु संवुडविअडासु चुलसीइ-लक्खपरिसंकडासु सीओसिणमिस्सजोणिसु सुइरं निअंतणा इति ।''

प्रश्न–हे भगवान्! श्री पंचमंगल महाश्रुतस्कंध का उपधान तप अत्यंत दुष्कर बताया गया है । बाल आत्माएँ इस नियंत्रण को कैसे उठा सकती हैं?

उत्तर–है गौतम!जो कोई आत्मा इस नियंत्रण की इच्छा न रखें और उपधान किए बिना श्री पंचमंगल श्रुतज्ञान को पढ़े पढ़ाए या पढ़ने की अनुमोदना करे वह आत्मा प्रियधर्मी नहीं है, दृढ़धर्मी नहीं है, भक्तियुक्त नहीं है, सूत्र का अपमान (विडंबना) करनेवाली है, अर्थ का अपमान करनेवाली है, सूत्र–अर्थ दोनों का अपमान करनेवाली है और गुरु का भी अपमान करनेवाली है । सूत्र–अर्थ और यहाँ तक कि गुरु का भी अपमान करने वाली आत्मा वर्तमान, भूत और भविष्यकालीन तीर्थंकरों की आशातना करनेवाली है । वह आत्मा आचार्य–उपाध्याय और साधुओं का अपमान करनेवाली है, वह श्रुतज्ञान, अरिहंत, सिद्ध और साधु का अपमान करनेवाली है । अंनत संसार–सागर में भटकते हुए उसे संवृत, विवृत, परिसंवृत, शीत, उष्ण, मिश्र आदि चौरासी लाख योनियों में दीर्घकाल तक नियंत्रण सहन करने पड़ते हैं ।

उपधान को न माननेवाला आज्ञाविराधक

उपधान वहन करने से पहले जिन्होंने नमस्कार आदि सूत्रों का अध्ययन कर लिया है, उन्हें भी योग्य संयोग प्राप्त कर उपधान कर लेना

चाहिए । सांप्रत समय में अशठ पूर्वाचार्यों की आचरणा से (जो श्री जिन की आज्ञासमान है) द्रव्य–श्रेत्र–काल आदि की अपेक्षा से लाभालाभ का विचार कर जो उपधान तप बिना भी श्री नमस्कारादि सत्रों का अध्यायन कराते हैं, और उपधान तप के प्रति श्रद्धा का भाव धारण नहीं करते, और शक्ति होते हुए भी, संयोग मिलने पर भी उसका आचरण करने में रुचि नहीं रखते हैं, वे श्री जिनाज्ञा के विराधक हैं ।

जीवन का एक अपूर्व लाभ

उपधान तप करने से श्री जिनाज्ञा के पालन का अपूर्व लाभ मिलता है, इतना ही नहीं, बल्कि अन्य भी अनेक प्रकार के लाभ होते हें । मुक्ति के उद्देश्य से या जिनाज्ञा का पालन करने के विशुद्ध उद्देश्य से आराधना करनेवालों के लिए ये लाभ अनुभवसिद्ध हैं ।

उपधान तप के दिनों में निरंतर तप के कारण अति चिकने कर्मों का भी शोषण होता है, असारभूत शरीर में से अमूल्य सारग्रहण होता है, श्रुत की अपूर्व शक्ति प्राप्त होती है । रोज पौषध करना होने से मुनिपने से तुलना होती है, इंद्रियों का निरोध होता है, कषायों का संवर होता है । पूरा दिन संवर की क्रियाओं में ही व्यतीत होता है । देववंदन से प्रभु–भक्ति और गुरुवंदन से गुरु की भक्ति होती है । जीवन में अभक्ष्य–भक्षण और रात्रि–भोजन का त्याग आसान बन जाता है । इस प्रकार के अनेक लाभों का प्रत्यक्ष अनुभव होता है ।

गृहस्थ जीवन में उपधान तप उच्च कोटि की एक धर्मक्रिया है और उसकी आराधना करना श्रावक–जीवन का एक बहुत बड़ा, अपूर्व और अमूल्य लाभ है ।

श्री नमस्कार सूत्र के अध्ययन की योग्यता प्राप्त करने के लिए 16 दिनों में बारह उपवास (पाँच उपवास, आठ आयंबिल, तीन उपवास) इतना तप करने की प्राचीन विधि थी । लेकिन वह तप अत्यंत कठिन पड़ता है, इसलिए पूर्वाचार्यों ने वर्तमान समय में 18 दिनों तक एक के बाद एक इस क्रम से उपवास और एकाशना (नीवी) करने की विधि रखी

है । कुल तप साढ़े बारह उपवास का होता है । शास्त्रीय मर्यादा यह है कि श्री नवकार मंत्र के पठन की योग्यता प्राप्त करने के लिए कम–से–कम अठारह दिनों में साढ़े बारह उपवास का तप गुरु के सानिध्य में दिन–रात पौषध में रहकर करना चाहिए । इस संबंध में प्राचीनतम उल्लेख **श्री महानिशीथ सूत्र** में मिलता है । वह नीचे दिया जाता है ।

''से भयवं! कयराए विहीए पंमंगलस्सणं विणओवहाणं कायव्व? गोयमा ! इमाए विहीए पंचमंगलस्स णं विणओवहाणं कायव्वं । तं जहा-सुपसत्थे चेव सोहणे तिहिकरणमुहुत्तनक्खत्तजोगलग्गससिबले विप्पमुक्कजायाइमयासंकेण संजायसद्धासंवेगसुतिव्वतरमहतुल्लसंतसुहज्झवसायाणुगयभत्तिबहुमाणपुव्वं निन्नियाणदुवालसभत्तट्ठिएणं चेइयालए जंतुविरहिओगासे भत्तिब्भरनिब्भररोमंचियफुल्लवयणुवसंत पसंतसोमथिरदिट्ठिणवणवसंवेगसमुछलंत संजायबहलघणणिरंतरअचिंतपरमसुहपरिणामविसेसुल्लसियसजीवरियाणु समयविवड्ढंततपोमयसुविसुद्ध-सुनिम्मल-थिरद्ढयरंतकरणेणं खितिणिहियजाणुसिअउत्तमं ग. ।–करकमलउ-लसोहं तंजलिपुडेणं सिरिउसभाइपवरवरधम्मतित्थयरपडिमाबिंबणिवेसियणयणमाण सेगग्गतग्गयज्झवसाएणं समयन्नदिट्ठचारित्ताइगुणसंपयोववेअगुरुसद्दत्था (संदिट्ठा) णुट्ठाणकरणेक्कबद्धलक्खेण,

तथाहि–गुरुवयण–विणिग्गयं विणयाइबहुमाणपरिओसाणुक्कमोवलद्धं अणेगसोगसं–तावुव्वेगमहावाहि –वेअणाघोरदुक्खदारिद्दकिलेसरोगसंजोग-जरामरणगब्भनिवासाइ ददुट्ठसावगागाहभीमभवोदहितरंडगभूयं इणमो सयलागममज्झवत्तगस्स,मिच्छत्तदोसोवहयबुद्धिपरिकप्पियकुभणियअधडमाण असेसहेउदिट्ठं तजुत्तिविद्धंसणिक्क पच्चलस्स पंचमंगलमहासुअक्खंधस्स पंचज्झयणेगचूलापरिक्खित्तस्स, पवरपवयणदेवयाहिट्ठिअस्स, तिपदपिरिच्छिन्नेगालावरसत्तक्खरपरिमाणं अणंतगम–पज्जवत्थपसाहगं सव्वमहामंतपवरविज्जाणं परमबीअभुअं ''नमो अरिहंताणं'' ति पढमज्झयणं अहिज्झेयव्वं

तद्दिअहे अ आयंबिलेण पारेअव्वं, तहेव बिइअदिणे अणेगाइसयगुण-संपओववेयं अणंतरभणिअत्थपसाहगं अणंतरुत्तेणेव कमेण दुपयपरिच्छिन्नेगा-लावग पंचक्खकरपरिमाणं 'नमो सिद्धाणं' ति बीयमज्झयणं अहिज्झेयव्वं, तद्दिअहे अ आयंबिलेणं पारेयव्वं,

तहेव तइयदिणे अणेगाइसयसगुणसंपओववेयं अणंतरभणि-अत्थपसाहगं अणंतरुत्तेणेव कमेण तिपदपरिच्छिन्नेगालावगं सत्तक्खर-परिमाणं 'नमो आयरियाणं' ति तइयमज्झयणं आयबिलेणं अहिज्झेयव्वं,

तहेव अणंतरुत्तमत्थपसाहगं तिपयपरिच्छिन्नेगालावगं सत्तक्खरपरिमाणं 'नमो उवज्झायाणं' ति चउत्थमज्झयणं अहिज्झेयव्वं तद्दिअहे य आयंबिलेणं पारेयव्वं,

एंवं 'नमो लोए सव्वसाहूणं' ति पंचमज्झयणं पंचमदिणे आयंबिलेण। तहेव तयत्थाणुगामियं एक्कारसपयपरिछिन्नं तिआलावगति-तीसक्खर– परिमाणं 'एसो पंचनमुक्कारो, सव्वपावप्पणासणो। मंगलाणं सव्वेसिं, पढमं हवइ मंगलं। ति चूलंति,

छट्ठसत्तट्ठमदिणे तेणेव कमविभागेणं आयंबिलेहिं अहिज्झेयव्वं। एवमेव पंचमंगलमहासुअक्खंधं सरवन्नपयक्खर–बिन्दुमत्ताविसुद्धं गुरुगुणोववेयं गुरूवइट्ठं कसिणमहिज्झिताणं तहाकायव्वं, जहापुव्वाणुपुव्वीए पच्छाणुपुव्वीए अणाणुपुव्वीए जीहाग्गे तरिज्जा,

तओ तेणेवाणंतरभणियतिहि करणमुहुत्तणक्खत्तजोगलग्ग-ससिबलजंतुविरहिओगासे चेइआलगाइकमेणं अट्ठमभत्तेणं समणुजाणाविऊण गोयमा! महया पंबंधेण सुपरिफुडं निउणं असंदिद्धं सुत्तत्थं अणेगहा सोऊण धारेयव्वं। एयाए विहीए पंच मंगलस्स णं गोयमा! विणओवहाणं कायव्वं।' इत्यादि श्री महानिशीथ–पंचमाध्ययने पदानुसारिलब्धिमता श्री वज्रस्वामिना लिखितम्।

प्रश्न 18–हे भगवन्! श्री पंचमंगल महाश्रुतस्कंध का विनयपूर्वक उपधान तप किस प्रकार की विधि से करना चाहिए?

उत्तर–हे गौतम! श्री पंचमंगल महाश्रुतस्कंध का विनयपूर्वक उपधान तप नीचे बताई गई विधि के अनुसार करना चाहिए।

अत्यंत श्रेष्ठ और सुंदर तिथि–करण–मुहूर्त–नक्षत्र–योग–लग्न–चंद्रबल जब हो तब जातिमदादि दोष से रहित होकर, श्रद्धा और संवेग (आतुरता) से अति तीव्रतर महा उल्लसित और शुभ अध्यवसाय युक्त होकर, भक्ति और बहुमानपूर्वक इहलोक–परलोक के सुखों के बारे में नियाणा (इच्छा) रखे बिना पाँच उपवास करके, जिन मंदिर में जंतुरहित स्थान पर भक्ति के आवेश से परिपूर्ण और रोमांचित शरीर वाला होकर, प्रसन्नमुख, शांत, उपशांत, सौम्य और स्थिर दृष्टि वाला बनकर, नए–नए संवेगरस से उछलने वाले और उत्पन्न हुए अचिन्त्य परमशुभ परिणाम विशेष से उल्लसित जीव वीर्ययुक्त और उससे प्रतिक्षण बढ़ने वाले प्रमोद से सुविशुद्ध, सुनिर्मल, स्थिरतर और दृढ़तर अंतःकरण वाला होकर, पृथ्वी पर अपने दोनों घुटने टेक तथा मस्तक पर करकमलों का अंजलिपुट रखकर और श्री ऋषभादि प्रवरधर्म–तीर्थकरों की प्रतिमाओं पर अपनी आँखे और मन पूरी तरह लगाकर, एकाग्रता से तद्‌गत अध्यवसाययुक्त बनकर, शास्त्रोक्त चारित्रादि गुणसंपदाओं से युक्त गुरुनिर्दिष्ट अनुष्ठान करने के लिए अपना ध्यान/मन एकाग्र कर,

जैसे–गुरु के मुख से निकले हुए, विनय–बहुमान–परितोषादि के क्रम से प्राप्त, शोक, संताप, उद्वेग, महाव्याधि–वेदना, घोर दुःख, दारिद्र्य, क्लेश, रोग, संयोग, जरा–मरण और गर्भ में निवास आदि रूप दुष्ट, श्वापदों से युक्त अगाध, भीम भवसागर के लिए नौकातुल्य, सभी आगमों होने वाले, मिथ्यात्वदोष से घायल बुद्धि वाले जीवों से परिकल्पित, कुवचन और अयुक्त हेतु दृष्टांतों और युक्तियों का विध्वंस करने के लिए अत्यंत समर्थ, पाँच अध्ययन और एक चूलिका परिमाण, प्रवरप्रवचन देवता द्वारा अधिष्ठित तो पंचमंगल महाश्रुतरकंध है, उसका पहला अध्ययन (पद)–**`नमो अरिहंताणं', ** जो तीन पद, एक आलापक और सात अक्षरों से युक्त है, अनंत गम, पर्यव और अर्थों का प्रसाधक है, सभी महामंत्रों और प्रवर विद्याओं का परम बीजभूत है, उसको पढ़ना चाहिए और उस दिन आयंबिल से पारणा चाहिए ।

उसी प्रकार दूसरे दिन अनेक अतिशयों और गुणसंपदाओं से युक्त, अन्यत्र कहे हुए अर्थ का प्रसाधक, अन्यत्र कहे क्रम से ही दो पद, एक आलापक और पाँच अक्षरों के परिमाण का **'नमो सिद्धणं'** यह दूसरा अध्ययन (पद) आयंबिल तप के साथ पढ़ना चाहिए ।

इसी प्रकार तीसरे दिन अनेक अतिशय और गुणों की संपदाओं से युक्त अनंतर कथित अर्थ को सिद्ध करने वाला, अनंतर कथित क्रम से तीन पद एक आलापक और सात अक्षर के परिमाणवाला **'नमो अयरियाणं'** यह तीसरा अध्ययन आयंबिल तप के साथ पढ़ना चाहिए ।

उसी तरह अन्यत्र कहे हुए अर्थ को साधनेवाला, तीन पद, एक आलापक और सात अक्षरों के परिमाण का **'नमो उवज्झायाणं'** यह चौथा अध्ययन (पद) चौथे दिन पढ़ना चाहिए और उस दिन आयंबिल करना चाहिए ।

उसी तरह से तीन पद, एक आलापक और नौ अक्षरों के परिमाण का **'नमो लोए सव्वसाहूणं'** यह पाँचवाँ अध्ययन (पद) पाँचवें दिन आयंबिल के साथ पढ़ना चाहिए ।

उसी प्रकार से उस अर्थ का अनुसरण करनेवाले ग्यारह पद, तीन आलापकों और तैंतीस अक्षरों के परिमाण की **'एसो पंच नमुक्कारो, सव्व पावप्पणासणो । मंगलाणं त सव्वेसिं, पढमं हवइ मंगलं ।'** यह चूलिका छठे, सातवें और आठवें दिन उसी क्रम विभाग से आयंबिल के साथ पढ़नी चाहिए ।

इस प्रकार पंचमंगल महाश्रुतस्कंध का स्वर, वर्ण, पद, अक्षर, मात्रा तथा बिन्दुओं के साथ शुद्ध रूप में बड़े गुणों से युक्त गुरु उपदेश के अनुसार, संपूर्ण रूप में अध्ययन इस प्रकार करना चाहिए कि जिससे पूर्वानुपूर्वी और पश्चानुपूर्वी और अनानुपूर्वी द्वारा जीभ के अग्र भाग पर बैठ जाए, पूर्ण कठंस्थ हो जाए ।

उसके बाद अन्यत्र ऊपर बताई गई तिथि–करण–मुहूर्त–नक्षत्र –योग–लग्न–चंद्रबल हो, उस समय जंतु विरहित स्थल पर, चैत्यालयादि

के क्रम से, अट्ठमभक्त (तीन उपवास) कर, सम्यक् प्रकार से अनुज्ञा पाकर, बड़े प्रबंध से, सुपरिस्फुट, निपुण और असंदिग्ध रूप में सूत्र तथा अर्थ को है गौतम! अनेक प्रकार से संभल कर धारण करना चाहिए। हे गौतम! इस विधि से पंचमंगल महाश्रुतस्कंध का विनय के साथ उपधान करना चाहिए।

(पदानुसारिलब्धि प्राप्त अंतिम दशपूर्वी श्री वज्रस्वामी जी द्वारा लिखित **'श्रीमहानिशीथ सूत्र'** के पंचम अध्ययन के अंतर्गत आलापक का हिंदी–रूपांतर)

उपदेशक तथा उत्तरसाधक

सामान्य मंत्र–तंत्रादि को सिद्ध करने के लिए भी उन मंत्रों के कल्पों के अनुसार तप, जप, क्रिया, आसन आदि करने पड़ते हैं, इतना ही नहीं, बल्कि घोर उपसर्गादि भी सहने पड़ते हैं और तभी वे सिद्ध होते हैं। तो फिर इस जन्म और जन्मानतर में अपूर्व लाभ देनेवाले श्री नमस्कार जैसे सूत्र सिद्ध करने के लिए कठोर तपश्चर्या आदि का जो विधान किया गया है, वह किसी भी तरह से अघटित नहीं है।

मंत्रादि की सिद्धि में उपदेशक और उत्तरसाधकों की सहायता की जैसे आवश्यकता होती है, वैसे यहाँ भी उपदेशक के स्थान पर योग्यताप्राप्त गुरु और उत्तरसाधक की जगह पर उस तप की आराधना करने–कराने के लिए उपयुक्त हुए साधर्मिक बंधु होते हैं। उनकी सहायता से ही उपधान जैसा महान् तप विघ्नरहित सिद्ध होता है।

चित्त की एकाग्रता कब होती है?

वर्तमान समय में नवकार गिननेवाले या नहीं गिननेवाले, लगभग सबकी मुख्य शिकायत यही है कि **'श्री नवकार की महिमा चाहे जितनी बड़ी हो, लेकिन जब तक उसमें चित्त एकाग्र नहीं होता, तब तक उसे गिनने का क्या फल है?'**

यह याद रखना चाहिए कि श्री नवकार और उसके अंतर्गत

होनेवाले पंचपरमेष्ठी इस जगत् में परम मंगलरूप हैं, परम लोकोत्तम हैं, परम शरणरूप हैं, फिर भी उनकी मंगलमयता, लोकोत्तमत्ता या शरणरूपता का ध्यान सबको समान रूप में होना संभव नहीं है । लक्ष्मी की महत्ता का ख्याल रखने के लिए जैसे निर्धनता के दु:ख का ज्ञान आवश्यक है, वैसे श्री अरिहंत आदि पंचपरमेष्ठियों की महत्ता का ख्याल रखने के लिए उनके सिवाय अन्य वस्तुओं की तुच्छता का ख्याल होना सबसे पहले आवश्यक है ।

जैसे दरिद्रता के दु:ख को दु:ख के रूप में न समझ सकनेवाले को लक्ष्मी के प्रति उस प्रकार का प्रेम कभी उत्पन्न नहीं हो सकता है, वैसे सांसारिक पदार्थों की अमांगलिकता, अलोकोत्तमता अथवा अशरणता को नहीं पहिचानने वाले जीवों के अंतर में परमेष्ठियों के प्रति प्रेम प्रकट होना असंभव है ।

यही कारण है कि आज नवकार गिननेवाले को गिनते समय भी चित्त की एकाग्रता नहीं होती है । जिन्होंने इस संसार की अशरणता, तुच्छता और अमंगलता को अच्छी तरह से जान लिया है, उनका मन तो नवकार गिनते समय या न गिनते समय भी पंचपरमेष्ठियों में ही तल्लीन रहता है । उपाध्याय **श्री यशोविजय जी** महाराज **योगदृष्टि** की सज्झाय में (शास्त्रपाठ) बताते हैं कि

मन महिलानुं रे वहाला उपरे, बीजा काम करंत,
तेम श्रुत धर्मे रे एहनु मन रहे, ज्ञानाक्षेपकवंत;
धन–धन शासन श्री जिनवरतणुं ।।1।।

आक्षेपक ज्ञानवाले का मन अर्थात् संसार की असारता आदि समझनेवाले महापुरुषों का मन हरदम श्रुत धर्म और उपलक्षण से चारित्रधर्म में आसक्त रहता है, जैसे अनेक कार्य करते हुए भी सती स्त्रियों का मन पति पर ही रहता है ।

श्री नवकार भी महाश्रुत है । उस पर उसी का चित्त आसक्त रहता है, जिसे श्री नवकार के सिवाय अन्य पदार्थों की अस्थिरता,

अहितकारिता और विनाशशीलता का यथार्थ ख़्याल आया है । यह ख़्याल जितने अंश में सतेज, उतने अंश में श्री नवकार के बारे में चित्त की एकाग्रता अधिक होगी । यह ख़्याल जितना मंद, उतने अंश में श्री नवकार के संबंध में चित्त की एकाग्रता में भी मंदता होगी ।

इससे यह बात स्पष्ट होती है कि श्री नवकार गिननेवाला जब उसमें एकाग्र नहीं बन सकता है, तो उसमें दोष उसके प्रमाद का है । ऐसे लोगों को श्री नवकार की सारभूतता और अन्य पदार्थों की असारता मन में पक्की बैठ जाए इस दृष्टि से प्रयत्न करने में कटिबद्ध हो जाना चाहिए ।

और जहाँ ऐसा प्रयत्न करना कर्त्तव्य के रूप में प्रतीत होगा, वहाँ निरंतर श्री जिनवचन श्रवण, नित्य नया श्रुताभ्यास, सम्यग्ज्ञान और सम्यग्ज्ञानी के प्रति अंतरंग भक्ति करना आदि कर्त्तव्य अपने आप जीवन में आ जाएंगे । समस्त जैन शासन और उसकी सारी मर्यादाएँ महान् आशीर्वाद की तरह लगेगी और इन मर्यादाओं को संभालनेवाले, पालन करने वाले, उनका उपदेश करनेवाले और इस जगत् का महाकल्याण करनेवाले सत्पुरुष होते हैं, ऐसा प्रतिभास होगा ।

इसी प्रकार अध्ययन करते–करते एक बार श्री नवकार के प्रति हार्दिक प्रेम जग जाए, तो फिर इस अमृत का स्वाद भुलाए नहीं भूलेगा । **'एक बार जिसने अमृत का स्वाद चखा, उसे फिर अन्य भोजन हरदम तुच्छ लगते है'** इस न्याय से एक बाद यदि जो श्री नवकार की परम मांगलिकता, परम लोकोत्तमता और परम शरणभूतता समझ में आ जाए तो फिर पूरे संसार में उसे छोड़कर अन्य किसी भी बात में आत्मा को प्रेम होना संभव नहीं है ।

10

नवकार का ध्यान

मनुष्य या अन्य किसी भी प्राणी के जीवन में **'ध्यान'** मुख्य विषय है । कोई भी प्राणी, किसी भी क्षण किसी–न–किसी प्रकार के ध्यान के बिना नहीं रह सकता है । **'उपयोग'** जीव का लक्षण है और वह जहाँ–जहाँ होता है, वहाँ–वहाँ ध्यान अवश्य होता है । असंज्ञी या मनरहित प्राणियों का ध्यान अव्यक्त होता है, तो संज्ञी या मनसहित होनेवाले प्राणियों का ध्यान व्यक्त होता है । शास्त्रों में व्यक्त ध्यान को दो प्रकारों में विभक्त किया है । अस्थिर चित्त में होनेवाला ध्यान भावना, मनन (अनुप्रेक्षा) या चिंतन कहलाता है, तथा स्थिर चित्त से होनेवाला ध्यान **'ध्यान'** कहलाता है ।

इस ध्यान के शुभ और अशुभ ये दो प्रकार हैं । इसमें से शुभध्यान के प्रभेद हैं धर्मध्यान और शुक्लध्यान, तथा अशुभध्यान के प्रभेद आर्तध्यान और रौद्रध्यान हैं । धर्मध्यान और शुक्लध्यान की प्राप्ति जीव को क्वचित् होती है । प्रत्येक संसारी प्राणी का अधिकांश काल आर्तध्यान और रौद्रध्यान में ही बीतता है । प्राणियों के सुख–दुःख का आधार उनके चित्त की परिणति पर होता है और उस चित्तपरिणति का ही दूसरा नाम ध्यान है । कहा है कि

चित्तमेव हि संसारो, रागादिक्लेशवासितम् ।
तदेव तैर्विनिर्मुक्तं, भवान्तं इति कथ्यते ।।

अर्थात् रागादियुक्त चित्त ही संसार है और रागादि वियुक्त चित्त ही मोक्ष है ।

ध्यान का सुख–दुःख के साथ संबंध

संसार और मोक्ष का ध्यान के साथ परंपर संबंध है, लेकिन ध्यान का सुख–दुःख के साथ साक्षात् संबंध है । आत्मा सुखी है या दुःखी, यह जानने का मापदंड उस जीवात्मा का ध्यान ही है । बाह्य

कष्ट के प्रसंगों में भी शुभध्यानवाली आत्मा सुख का अनुभव करते हुए देखी जाती है, तो दूसरी ओर बाह्य सुखोपभोग की सामग्री से युक्त आत्मा भी अशुभ ध्यान से चिंताग्रस्त और दु:खी दशा से युक्त अनुभव की जाती है ।

सुख–दु:ख का कारण बाह्य स्थिति नहीं, बल्कि आंतरिक ध्यान है । यह बात सत्य होते हुए भी आंतरिक ध्यान का मुख्य आधार बाह्य स्थिति पर रहा हुआ है । इसलिए अच्छी या बुरी बाह्य स्थिति को भी व्यवहार में सुख या दु:ख की स्थिति कहा जाता है । लेकिन व्यवहार का यह वचन एकदेशीय है । एकदेशीय वचनों को सर्वदेशीय वचनों के रूप में स्वीकार कर लेने से ही तत्त्व के बारे में अनेक प्रकार की भ्रांतियाँ खड़ी हो जाता हैं । सुख–दु:ख के संबंध में इस प्रकार की भ्रांति उत्पन्न न हो, इसलिए इस बात का निर्णय पहले कर लेना चाहिए कि सुख–दु:ख का आंतरिक और सच्चा कारण ध्यान को छोड़कर अन्य कुछ भी नहीं है ।

विषयों में शुभाशुभ की कल्पना

जीव का लक्षण **'उपयोग'** है । **'उपयोग'** ज्ञानात्माक है, ज्ञान विषयात्मक है और विषय शुभ और अशुभ दोनों प्रकार का होता है । शुभ विषय को ज्ञान के द्वारा समझते समय आत्मा सुख का अनुभव करती है तो अशुभ विषय को ज्ञान की सहायता से जानते समय आत्मा को दु:ख का अनुभव होता है ।

विषयों के बारे में शुभ–अशुभ की कल्पना जितनी तीव्र होती है उतना ही सुख–दुख की अनुभूति का रस भी तीव्र होगा । जैसे–जैसे विषयों में शुभाशुभ कल्पनाओं को विराम मिलता है वैसे–वैसे राग–द्वेषात्मक सुख–दु:ख के अनुभव को भी विराम मिलता है और यह विराम होते ही श्री वीतरागदशा के सत्य सुख का एकान्तिक, आत्यन्तिक और अविनाशी साक्षात्कार होता है ।

इससे यह सिद्ध होता है कि सच्चे सुख की प्राप्ति का उपाय विषयों में शुभाशुभ कल्पनाओं को सर्वथा विराम देना ही है । जब तक जीव जड़ विषयों में शुभाशुभ की कल्पना करता है, तब तक शुभ विषयों के प्रति राग और अशुभ विषयों के प्रति द्वेष नष्ट नहीं हो सकता है । राग–द्वेष ही चित्त–संक्लेश का प्रमुख कारण है और संक्लिष्ट चित्त वाली आत्मा निराबाध सुख का अनुभव कर सके, यह बात कभी संभव नहीं है । इसलिए अविच्छिन्न सुखानुभव में बाधा उत्पन्न करनेवाले चित्तसंक्लेश के नाश का उपाय खोजना चाहिए ।

विषयों के प्रति होनेवाली अनादिकालीन शुभाशुभ कल्पनाओं के विलय के लिए श्री जिनशासन में अनित्यत्व आदि बारह भावनाओं का उपदेश दिया गया है । इन भावनाओं के परिशीलन से जड़–चेतन पदार्थों के बारे में होनेवाली मिथ्या कल्पनाएँ नष्ट हो जाती हैं और पदार्थ जैसा है, वैसा समझ में आता है । इस समझ से चित्त स्थिर होता है और ऐसे स्थिर चित्त से किया हुआ ध्यान, ध्यान के समय भी अपूर्व सुख का अनुभव कराता है । इतना ही नहीं, बल्कि ऐसे स्थिर चित्त से किया हुआ ध्यान उत्तरोत्तर शुभ ध्यान की वृद्धि करता है और आत्मा की ज्ञानचेतना का संपूर्ण विकास करता है ।

चैतन्य के तीन विभाग

कर्मबद्ध आत्मा का चैतन्य तीन भागों में विभक्त होता है–ज्ञानचैतन्य, कर्मचैतन्य और कर्मफलचैतन्य । इन तीन प्रकार ते चैतन्यों में से किसी–न–किसी एक प्रकार के चैतन्य का अनुभव आत्मा निरंतर करती है । आत्मा की बोधपरिणति ज्ञानचैतन्य है, राग–द्वेषात्मक परिणति कर्मचैतन्य है और सुख–दु:खात्मक परिणति कर्मफलचैतन्य है ।

आत्मा का प्रत्येक ज्ञान उसे रागद्वेषात्मक सुख–दु:ख का अनुभव करानेवाला नहीं होता है, लेकिन इष्ट–अनिष्ट पदार्थविषयक ज्ञान ही सुख–दु:ख का अनुभव करानेवाला होता है ।

आहारादि इष्ट पदार्थ और विषकंटकादि अनिष्ट पदार्थों से इष्ट भी नहीं और अनिष्ट भी नहीं ऐसे समुद्र के मध्यभाग के जल आदि पदार्थों की संख्या बहुत बड़ी है। उसका ज्ञान आत्मा में राग या द्वेष इन दोनों में से कोई भी भाव उत्पन्न नहीं करता है। इससे राग–द्वेषात्मक सुख या दु:ख का भी अनुभव नहीं होता है, बल्कि मध्यस्थ वृत्ति रहती है और यह मध्यस्थवृत्ति ही आत्मा के सर्वसुख के पुंजरूप ज्ञानाख्य चेतना है, इष्टानिष्ट बुद्धि कर्माख्य चेतना है और इष्टप्राप्ति से सुखानुभव और अनिष्ट के संयोग से दु:खानुभव यह कर्मफलाख्य चेतना है।

इन तीन प्रकारों की चेतना में ज्ञानाख्य चेतना ही एक मात्र उपादेय है और उसकी प्राप्ति के लिए ऐसा उपाय करना आवश्यक है, जिससे कर्माख्यचेतना और कर्मफलाख्यचेतना उत्पन्न ही न हो। इस उपाय का नाम भावना और ध्यान है।

पवित्र पदों से सालबंन ध्यान

अस्थिर चित्त को स्थिर करने का कार्य शुभ भावना करती है और स्थिर चित्त को अधिक स्थिर करने का कार्य शुभध्यान से होता है। शुभध्यान दो प्रकार का होता है, सालंबन और निरालंबन। सालंबन ध्यान के अभ्यास के बिना निरालंबन ध्यान की प्राप्ति नहीं हो सकती है दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि सालंबन ध्यान का परिपाक निरालंबन ध्यान है। शास्त्रों में सालंबन ध्यान अनेक प्रकार का बताया गया है। उनमें भी पवित्र पदों का अवलंबन कर जो ध्यान किया जाता है, उसकी महिमा योगग्रंथों में वर्णन की गई है। कलिकालसर्वज्ञ आचार्य भगवंत **श्रीमद् हेमचंद्रसूरीश्वर जी** महाराज स्वरचित **'योगशास्त्र '** ग्रंथ में कहते हैं–

यत्पदानि पवित्राणि समालम्ब्य विधीयते ।
तत्पदस्थं समाख्यातं ध्यानं सिद्धांतपारगैः ।।

अर्थात्, सिद्धांतसागर को पार कर गए पुरुषों ने पदस्थ ध्यान

उसे कहा है, जो ध्यान पवित्र पदों का अवलंबन लेकर किया जाता है ।

इन पवित्र पदों में श्री पंचपरमेष्ठी–नमस्कार मंत्र के अड़सठ अक्षर अत्यंत पवित्र हैं । ये अड़सठ अक्षर नौ पदों और आठ संपदाओं में विभक्त हैं । उनको पूर्वानुपूर्वी, पश्चानुपूर्वी और अनानुपूर्वी इन तीन प्रकारों से निरंतर गिनने से प्राप्त होनेवाला महाफल शास्त्रों में बताया गया है ।

संवत् 1487 में रचित श्री नमस्कार मंत्र के कल्प में तपगच्छनायक परमगुरु श्री सोमसुन्दर सूरीश्वर जी महाराज के शिष्यरत्न श्री जिनकीर्तिसूरीश्वर जी महाराज ने कहा है–

इय अणुपुव्वीप्पमुहे, भंगे सम्मं विआणिउं जो उ ।
भावेण गुणह निच्चं, सो सिद्धि सुहाइं पावेइ ।।1।।
जं छम्मासियवरिसिअ–तवेण तिव्वेण झिज्झए पावं ।
नमुक्कार अणणुपुव्वी–गुणणेणं तयं खणद्धेण ।।2।।
जो गुणह अणणुपुव्वी, भंगे सयले वि सावहाणमणा ।
दढरोसवेरिएहिं, बद्धोवि स मुच्चए सिग्घं ।।3।।
एएहिं अभिमंतिअ, वासेणं सिरिसिरिवत्तमित्तेण ।
साहणिभूअप्पमुहा, नासंति खणेण सव्वगहा ।।4।।
अन्नेवि अ उवसग्गा, रायाइभयाइं दुट्ठरोगा य ।
नवपयअणाणुपुव्वी, गुणणेणं जंति उवसामं ।।5।।

अर्थात्, श्री पंचपरमेष्ठी नमस्कार के आनुपूर्वी आदि भंगों को आत्मा अच्छी रीति से समझकर भावपूर्वक गिनती है, वह सिद्धिसुखों को प्राप्त करती है ।।1।।

जिस पाप का नाश षाण्मासिक या वार्षिक तपों से होता है, अनानुपूर्वी ढंग से नमस्कार को गिगने से वही पाप अर्धक्षण में नष्ट होता है । ।।2।।

जो मनुष्य सावधान चित्त होकर अनानुपूर्वी के सभी भंगों को गिनता है वह मनुष्य अत्यंत क्रुद्ध वैरियों के बंधनों से भी शीघ्र मुक्त हो जाता है । ।।3।।

इस मंत्र से अभिमंत्रित **'श्रीवर्त'** नामक वासक्षेप से शाकिनी, भूत, दुष्ट ग्रह आदि एक क्षण में शांत हो जाते हैं ।।4।।

अन्य भी अनेक उपसर्ग/उपद्रव, राजा आदि का भय तथा दुष्ट रोग श्री पंचपरमेष्ठी नमस्कार मंत्र को अनानुपूर्वी से गिनने से शांत हो जाते हैं ।।5।।

इसी कल्प की स्वोपज्ञवृत्ति में आचार्यदेव **श्री जिनकीर्तिसूरिजी** महाराज श्री पंचपरमेष्ठी नमस्कार मंत्र के महात्म्य का वर्णन करते हुए कहते हैं–

''एष श्री पंचपरमेष्ठिनमस्कारमहामंत्रः, सरलसमीहित प्रापण-कल्पद्रुपमाभ्याधिकमहिमा, शांतिकपौष्टिकाद्यष्टकर्मकृत्, ऐहिकपार-लौकिक स्वाभिमतार्थसिद्धये यथाश्रीगुर्वाम्नायं ध्यातव्यः ।''

अर्थात्, यह श्री पंचपरमेष्ठी नमस्कार महामंत्र सर्व समीहित पदार्थों की प्राप्ति के लिए कल्पतरु से भी अधिक महिमायुक्त है, शान्तिक–पौष्टिक आदि आठ कार्यों का साधक है और इहलोक तथा परलोक के वांछित अर्थों की सिद्धि कराने वाला है । इससे गुरु आम्नाय (उपदेश) पूर्वक उसका ध्यान करना चाहिए ।

कलिकालसर्वज्ञ आचार्य भगवंत **श्रीमद हेमचंद्रसूरीश्वरजी** महाराज भी श्री पंचपरमेष्ठी नमस्कार के मंत्र की महिमा का वर्णन करते हुए **'योगशास्त्र'** नामक महाग्रंथ में बताते हैं कि–

तथा पुण्यतमं मंत्रं जगत्त्रितयपावनम् ।
योगी पंचपरमेष्ठि–नमस्कारं विचिन्तयेत् ।।1।।
त्रिशुद्धया चिन्तयंस्तस्य, शतमष्टोत्तरं मुनिः ।
भुंजानोऽपि लभेतैव, चतुर्थतपसः फलम् ।।2।।
एनमेव महामंत्रं, समाराध्येह योगिनः ।
त्रिलोक्यापि महीयन्तेऽधिगताः परमां श्रियम् ।।3।।
कृत्वा पापसहस्राणि, हत्वा जंतुशतानि च ।
अमुं मंत्रं समाराध्य, तिर्यञ्चोऽपि दिवं गताः ।।4।।

अर्थ :– तीनों जगत् को पवित्र करनेवाले अतिशय पवित्र श्री पंचपरमेष्ठी नमस्कार मंत्र का योगीपुरुष ध्यान करते हैं । ।।1।।

त्रिशुद्धि द्वारा श्री नमस्कार मंत्र का एक एक सौ आठ बार ध्यान करने वाला मुनि, खाते हुए भी उपवास का फल प्राप्त करता है । ।।2।।

योगी पुरुष इसी मंत्र की सम्यक् रीति से आराधना कर परमलक्ष्मी को पाकर तीनों लोक में पूजे जाते हैं । ।।3।।

हजारों पाप करनेवाले तथा सैकड़ों जंतुओं को मारनेवाले तिर्यंच आदि भी इस मंत्र की अच्छी तरह से आराधना कर देवगति प्राप्त कर चुके हैं । ।।4।।

इसके अतिरिक्त श्री महानिशीथ आदि सुत्रों में श्री विशेषावश्यक महाभाष्य आदि ग्रंथों में तथा पूर्वाचार्यो द्वारा प्रणीत अनेक ग्रंथरत्नों में श्री नमस्कार महामंत्र की अति अद्भूत महिमा बतलाई है । श्री नवकार के एक अक्षर का भावसहित किया जाने वाला चिंतन सात सागरोपम के संचित पापों का क्षय करता है, एक पद का चिंतन पचास सागरोपम के संचित पापों का नाश करता है और समग्र श्री नवकार के सभी नौ पदों का चिंतन पाँच सौ सागरोपम के संचित पापों को नष्ट करता है । इस संबंध में आगम ग्रंथों में बताया गया है कि–

नवकार एक अक्खर, पावं फेडेइ सत्तअयराणं ।
पन्नासं च पएणं, सागर पणसय समग्गेणं ।।1।।
जो गुणइ लक्खमेगं, पूएइ विहीइ जिण नमुक्कारं ।
तित्थयरनामगोअं, सो बंधइ नत्थि संदेहो ।।2।।
अट्ठेव य अट्ठसया, अट्ठसहस्स अट्ठलक्ख अट्ठकोडीओ ।
जो गुणइ भत्तिजुत्तो, सो पावइ सासयं ठाणं ।।3।।

अर्थ :– श्री नवकारमंत्र का एक अक्षर सात सागरोपम के पापों का नाश करता है, श्री नवकार मंत्र के एक पद से पचास सागरोपम के पाप नष्ट होते है और समग्र नवकार से पाँच–सौ सागरोपम के पाप नष्ट हो जाते है । ।।1।।

जो एक लाख बार नवकार मंत्र को विधिपूर्वक गिनता है, वह निस्संदेह श्री तीर्थंकर नाम कर्म उपार्जित करता है । ।।2।।

जो भक्तियुक्त आत्मा आठ करोड़ आठ लाख, आठ हजार, आठ सौ, आठ बार नमस्कार को गिनती है वह शाश्वत स्थान प्राप्त कर लेती है । ।।3।।

श्री लोकप्रकाश आदि प्रमाणभूत (आकर) ग्रंथों के रचयिता महोपाध्याय **श्री विनयविजय जी** गणिवर श्री नमस्कार महामंत्र का प्रभाव वर्णन करते हिए सुप्रसिद्ध **'आराधनास्तवन'** में बताते हैं कि–

दशमे अधिकारे, महामंत्र नवकार,
मनथी नवि मुको, शिवसुख फल सहकार;
ए जपतां जाए दुर्गति दोष विकार,
सुपरे ए समरो, चौद पूर्वनो सार ।।1।।
जन्मान्तर जातां, जो पामे नवकार,
तो पातिक गाली, पामे सुर अवतार,
ए–नवपद सरीखो, मंत्र न कोई सार,
आ भवने परभवे, सुखसंपत्ति दातार ।।2।।
जुओ भील भीलडी, राजा राणी थाय,
नवपद महिमाथी, राजसिंह महाराय;
राणी रत्नवती बेहु, पाम्या छे सुरभोग,
एक भव पछी लेशे, शिववधू संजोग ।।3।।
श्रीमती ने ए वली, मंत्र फल्यो तत्काल
फणीधर फीटी ने , प्रगट थइ फूलमाल;
शिवकुमरे जोगी, सोवन पुरिसो कीध,
एम एणे मंत्रे, काज घणांनां सिद्ध ।।4।।

अर्थ स्पष्ट है ।

श्री नवकार मंत्र या श्री नवकार मंत्र के बीज से वासित कोई भी मंत्र उसकी आराधना करने वाली आत्मा को जन्मातंरों में अनेक लाभ

कराता है, इतना ही नहीं, बल्कि वह इस भव में भी अनेक प्रकार के लाभ कराता है। उनमें से कितने लाभों का वर्णन करते हुए कलिकालसर्वज्ञ आचार्य भगवान् **श्री हेमचद्रसूरीश्वर जी** श्री **'योगशास्त्र'** नाम ग्रंथ में बताते हैं कि

ध्यायतोऽनादिसंसिद्धान् वर्णानेतान् यथाविधि ।
नष्टादिविषये ज्ञानं, ध्यातुरुत्पद्यते क्षणात् ।।1।।

मंत्राक्षरों के इन अनादिसंसिद्ध वर्णों का विधिपूर्वक ध्यान करने वाले ध्याता को नष्टादि विषयक ज्ञान उत्पन्न होता है।

इसी श्लोक की स्वोपज्ञवृत्ति में वे एक प्राचीन श्लोक उद्धृत कर अनादिसंसिद्ध मंत्राक्षरों के जाप से होने वाले लाभों का ज्ञान कराते हैं। वह मूल श्लोक इस प्रकार है–

जापाज्जयेत्क्षयमरोचकमग्निमान्द्यं
कुष्ठोदरास्म (म) कसनश्वसनादिरोगान् ।
प्राप्नोति चाऽप्रतिमवाग् महती महद्भ्यः,
पूजा परत्र च गतिं पुरुषोत्तमाप्ताम् ।।1।।

अर्थात् अनादिसंसिद्ध मंत्राक्षरों के जाप से इस लोक में क्षय, खुराक के प्रति अरुचि, जठराग्नि की मंदता, कोढ़ का रोग, उदर का रोग, खाँसी की बीमारी, और दमें की बीमारियाँ आदि पर विजय प्राप्त होती है। अप्रतिम वचन की प्राप्ति होती है तथा बड़ों की ओर से भी महान् पूजा की प्राप्ति होती है और परलोक में तीर्थंकर–गणधरादि महापुरुषों द्वारा प्राप्त की हुई परमगति (मुक्तिस्थान) की प्राप्ति होती है।

फल के बारे में शंकाएँ अयोग्य हैं

श्री नमस्कार मंत्र या पदस्थ ध्यान के इस प्रभाव को सुन कर किसी के मन में यह शंका होना संभव है कि 'शास्त्रों में कही हुई ये बातें पूर्वकाल में सच भी होगी, किन्तु अभी तो श्री नवकार मंत्र या किसी भी मंत्र के जप से किसी प्रकार की सिद्धि का अनुभव नहीं होता है।'

श्री नवकार मंत्र या किसी भी धर्मानुष्ठान के बारे में इस प्रकार की शंका आज होती है, इसलिए उसका यथा शक्य समाधान कर लेना आवश्यक है ।

'पदस्थादि सद्ध्यानों का प्रभाव आज के समय में नहीं है' यह कथन सर्वथा झूठ है । हम पहले ही देख आए हैं ति **'जगत् का प्रत्येक प्राणी किसी–न–किसी प्रकार का ध्यान करता ही है ।'** सद्ध्यान की प्राप्ति होने से पहले प्रत्येक प्राणी का यह ध्यान दुर्ध्यान है । इस दुर्ध्यान को पहिचानने के लिये शास्त्रों में आर्त और रौद्र शब्द का प्रयोग किया गया है । आर्त और रौद्र ध्यान के चिंतन की आनादिकाल से आदत होने के कारण जीव अपने उस चिंतन का त्याग कर धर्म और शुक्ल जैसे उज्जवल ध्यान करने का प्रयास भी करे, तो उसे एकदम सफलता नहीं मिल सकती है ।

धर्मशास्त्रों में सद्ध्यान का जो प्रभाव वर्णन किया गया है, वह सद्ध्यान के प्रारंभ में ही ध्याता को प्राप्त हो जाता है, ऐसा नहीं समझना चाहिए । लेकिन समझना यह है कि इस ध्यान की पराकाष्ठा के समय दुनिया की ऐसी कोई ऋद्धि या सिद्धि नहीं है, जो ध्याता को प्राप्त नहीं होती है । इसके साथ ही यह कहना भी सत्य नहीं है कि सद्ध्यान की अभ्यासदशा में या उसके प्रारंभकाल में शास्त्रों में वर्णित कोई भी उत्तम स्थिति प्राप्त नहीं होती है ।

प्रारंभिक अभ्यास में आर्त–रौद्र की प्रबलता से धर्मध्यान की असर आत्मा पर न भी होती हो, तो भी उससे शास्त्र में बताए हुए फल पर अश्रद्धा करना ठीक नहीं है ।

शास्त्रों में जिन फलों का निर्देश किया गया है, उन्हें शास्त्रनिर्दिष्ट पध्दति से विधिपूर्वक होने वाली आराधना के लिए समझना चाहिए । विपरीत विधि या अविधि से होनेवाली आराधना का फल परिपूर्ण विधियुक्त आराधना से होने वाले फल जितना मांगना किसी भी तरह से संगत नहीं है ।

यह बात सच है कि विधि के प्रति राग या अविधि के पश्चाताप पूर्वक होनेवाली अविधि से होनेवाली आराधना, विधि के मार्ग पर ले जाने वाली होने से शास्त्रों में उनका निषेध नहीं किया है, फिर भी संपूर्ण फल के साथ तो परिपूर्ण विधि से होनेवाली आराधना का ही संबंध होता है ।

यह कहना भी अविचारपूर्ण है कि **'परिपूर्ण विधिपूर्वक आराधना इस काल में संभव न होने से शास्त्रों में रहा हुआ अनुष्ठान इस काल निरर्थक है ।'** शास्त्रों में बताया गए अनुष्ठान एक भव की दृष्टि से निर्माण किए गए नहीं होते हैं, बल्कि ये अनुष्ठान तो जन्म–जन्मांतर के साथ संबंध रखनेवाले होते हैं ।

यह किसी के लिए भी संभव नहीं है कि आत्मा की मुक्ति का कार्य एक ही भव की आराधना से सिद्ध हो जाए । श्रीमती मरुदेवी माता आदि के क्वचित मिलने वाले दृष्टांत शास्त्रों में आश्चर्यरुप माने गए हैं । अनादिकालीन असद्अभ्यास को टालने के लिए एक भव का अभ्यास पर्याप्त नहीं है । अनेक भवों के अभ्यास के परिणामस्वरूप ही आत्मा उस प्रकार के मनोबल को प्राप्त कर सकती है, जो उसे उसी भव में सिद्धि दिला देता है । इस बात को समझने वाली आत्मा यह कहने की हिम्मत कदापि नहीं कर सकती है कि **'इस काल में या किसी भी काल में धर्मानुष्ठान निरर्थक है ।'**

इससे यह भी नहीं समझना चाहिए कि **'धर्मानुष्ठान यह जन्मांतर में ही फल देने वाली चीज है और उसका इस जन्म में कुछ भी फल नहीं होता है ।'** जिनको इस जन्म के फल की परवाह है, उनके लिए तो धर्मानुष्ठान निरर्थक ही है । यह मानना भी न्यायविरुद्ध है । वैसे तो प्रत्येक क्रिया, चाहे वह धर्मानुष्ठान हो या अधर्मानुष्ठान, पूरी तरह से तो जन्मांतर में ही फल देती है । इस जन्म में उसका जो फल प्राप्त होता है, वह स्वल्प होता है । अनेक का खून करनेवाले को एक बार फाँसी मिलती है और एक खून करनेवाले को भी एक बार ही फाँसी मिलती है ।

यदि इस जन्म में प्राप्त होनेवाले फल से ही अनुष्ठान के फल की

समाप्ति मानी जाए, तो ऐसे कितने ही अनुष्ठान है कि जिनके फल का उपभोग करने के लिए इस भव में हमारे पास आवश्यक सामग्री ही नहीं होती है। एक जीव को अभयदान देनेवाले या जीव को प्राणांत आपत्ति में से उबारनेवाली आत्मा भी जो पुण्य बाँधती है, उसका बदला दिलाने की (एक बार प्राण देने की) सामग्री इस दुनिया में नहीं है। ऐसी स्थिति में अनेक जीवों को अभयदान देने वाली और अनेक जीवों को प्राणांत आपत्तियों में से उबारनेवाली आत्माओं से बँधे हुए पुण्य का फल इस जन्म में केसे प्राप्त हो सकता है?

धार्मिक अथवा अधर्मिक किसी भी प्रकार के अनुष्ठान का फल जन्मांतर में ही प्राप्त होता है। इस जन्म में जो फल प्राप्त होता है, वह अधुरा, अल्प और क्षणिक होता है। इसलिए ऐसे अधुरे, अल्प और क्षणिक फल से धर्मक्रिया के फल को नापने का प्रयत्न करना तृण के अग्रभाग से समुद्र के पानी को नापने के समान है। जैसे तृण के अग्र भाग से समुद्र के पानी को नहीं नापा जा सकता है, वैसे ही, इस जन्म के थोड़े से प्रसंगों से अच्छी या बुरी क्रियाओं का फल नहीं नापा जा सकता है। अच्छी या बुरी क्रिया का फल परंपरा से अनंत बनता जाता है, इसलिए उससे धर्मानुष्ठानों के अनंत फलों का शास्त्रीय प्रतिपाद न किसी भी तरह से असत्य सिद्ध नहीं होता है।

नमस्कारमंत्र गिनने की विधि

निद्रा का त्याग कर परम मंगल के लिए, बहुमान के साथ व्यक्त वर्ण नहीं सुने जाएँ, इस रीति से नवकार मंत्र का स्मरण करना चाहिए। कहा गया है कि **'शय्या पर बैठे हुए पुरुष को पंचपरमेष्ठियों का मन में चिंतन करना चाहिए।'** ऐसा करने से अविनय की प्रवृत्ति रुकती है।

अन्य आचार्यों का कहना है कि **'ऐसी कोई अवस्था नहीं है जिसमें नवकार मंत्र नहीं गिना जा सकता है।'** ये दोनों मत **'पंचाशक'** की वृत्ति में कहे गए हैं।

'श्राद्धदिन कृत्य' में कहा गया है कि **'शय्यास्थान छोड़कर**

भूमि पर बैठकर भावबंधु और जगत् के नाथ पंचपरमेष्ठी के नमस्कार रूप नवकार गिनना चाहिए ।'

'यतिदिनचर्या' में कहा गया है कि रात्रि के पिछले प्रहर में आबालवृद्ध सभी साधुओं को जागकर सात–आठ बार नवकार मंत्र गिनना चाहिए ।

निद्रा के बाद जागृत पुरुष नवकार गिनते हुए अपनी शय्या छोड़े । पवित्र भूमि पर खड़ा होकर अथवा पद्मासन आदि आसन में बैठकर पूर्व, उत्तर या जिस दिशा में जिनप्रतिमा हो, उस दिशा की ओर मुख कर चित्त की एकाग्रता के लिए कमलबंध से अथवा हस्तजप से नवकार मंत्र गिने ।

उसमें कमलबंध की विधि इस प्रकार है, कल्पित अष्टदलकमल की कर्णिका पर प्रथम पद स्थापन करे, पूर्व, दक्षिण, पश्चिम और उत्तर दिशा के दलों पर क्रमशः दूसरा, तीसरा, चौथा और पाँचवाँ पद स्थापन करे और दक्षिण पूर्व (आग्नेय), दक्षिण–पश्चिम (नैऋत्य), उत्तर–पश्चिम (वायव्य), उत्तर पूर्व (ईशान) इन चारों कोनों की दिशाओं में बाकी बचे चार पदों को क्रमशः स्थापन करें ।

श्री हेमचंद्रसूरि जी ने **'योगशास्त्र'** के आठवें प्रकाश में कहा है कि आठ पंखुड़ियों के श्वेत कमल की कर्णिका में चित्त स्थिर रखकर वहाँ पवित्र सात अक्षरों का मंत्र **'नमो अरिहंताणं'** का चिंतन करना चाहिए । पूर्वादि चार दिशाओं की चार पंखुड़ियों में क्रमशः **'नमो सिद्धाणं'** आदि चार पदों का और विदिशाओं में बाकी के चार पदों का चिंतन करना चाहिए । मन, वचन और काया की शुद्धि से इन प्रकार मौन रखकर 108 बार नवकार का जप/चिंतन किया जाए, तो भोजन करते हुए भी उपवास का फल प्राप्त होता है ।

हस्तजप की विधि

नंदावर्त, शंखावर्त आदि प्रकारों से हस्तजप किया जाए तो वह भी इष्टसिद्धि आदि अनेक फलों की प्राप्ति करानेवाला होता है । कहा गया है कि जो भव्य जीव हस्तजप के लिए नंदावर्त बारह संख्या से नौ

बार अथवा हाथ की उंगलियों की बारह गाँठों के नौ फेरे जितना अर्थात् 108 बार नवकारमंत्र का जप करे, उसे पिशाच आदि व्यंतर उपद्रव नहीं करते हैं। यदि बंधन आदि संकट हो, तो नंदावर्त के स्थान पर उसके उल्टे शंखावर्त से अथवा मंत्रों के अक्षरों या पदों के विपरीत क्रम से नवकार मंत्र का एक बार जप किया जाए तो क्लेश आदि का शीघ्र नाश होता है।

जिसे कमलबंध अथवा हस्तजप करने की शक्ति न हो, उसे सूत्र–रत्न–रुद्राक्ष आदि की जपमाला अपने हृदय की समश्रेणी में पहने हुए वस्त्र या पाँव का स्पर्श न हो इस रीति से पकड़नी चाहिए और मेरु का उल्लंघन किए बिना विधि के अनुसार जप करना चाहिए। कहा गया है कि उंगली के अग्रभाग से, व्यग्र चित्त से और मेरु के उल्लंघन से किया गया जप प्रायः अल्पफल देने वाला होता है। जनसमूह में जाप करने की तुलना में एकांत में और मंत्राक्षरों का उच्चारण करने के स्थान पर मौन रीति से और मौन रीति से करने के स्थान पर मन–ही–मन जप करना श्रेष्ठ है। इन तीनों प्रकारों के जप में पहले से दूसरा और दूसरे से तीसरा श्रेष्ठ जानना चाहिए। जाप करते हुए थकावट हो तो **'ध्यान'** किया जाए और ध्यान करते हुए थकान हो तो **'जाप'** किया जाए और **'जाप तथा ध्यान'** दोनों में थकावट हो तो **'स्तोत्र'** कहना चाहिए।

श्री पादलिप्तसूरिजी ने स्वरचित **'प्रतिष्ठापद्धति'** में कहा है कि जाप के तीन प्रकार हैं–मानस, उपांशु और भाष्य। उनमें सिर्फ मनोवृत्ति से ही उत्पन्न हुआ और जिसे जीव स्वयं ही जान सकता है वह **'मानस जप'** है। सुना नहीं जा सके इस रीति से अंदर ही अंदर बोलना **'उपांशु जप'** है। दूसरे सुन सके इस रीति से किया गया जप **'भाष्य जप'** है। उनमें से पहले प्रकार का जाप शांति आदि उत्तम कामों के लिए दूसरे प्रकार का जाप पुष्टि आदि मध्य कामों के लिए और तीसरे प्रकार का जाप अभिसार, जारण, मारण आदि अधम कार्यों के लिए उपयोग में लाया जाता है। मानस जप यत्नसाध्य है और भाष्यजप

सामान्य फल देने वाला है, इसलिए साधरण होने से उपांशुजप का उपयोग करना चाहिए ।

नवकार के पाँच पद अथवा नौ पद चित्त की एकाग्रता के लिए अनानुपूर्वी या विपरीत क्रम से भी गिने जा सकते हैं । **'योगशास्त्र'** के आठवें प्रकाश में कहा गया है कि पंचपरमेष्ठियों के नाम से उत्पन्न हुई सोलह अक्षरों की विद्या है । उसका दो सौ बार जाप किया जाए तो उपवास का फल मिलता है । **'अरिहंत–सिद्ध–आयरियउवज्झाय–साहू'** ये सोलह अक्षर हैं । वैसे ही यदि भव्य जीव **'अरिहंत–सिद्ध'** इन छः अक्षरों के मंत्र का तीन सौ बार, **'अरिहंत'** इन चार अक्षरों के मंत्र का चार सौ बार अथवा **'अ'** वर्ण के मंत्र का पांच सौ बार चित्त की एकाग्रत से जप करे, तो उसे उपवास का फल मिलता है ।

यह फल सिर्फ जीव को प्रवृत्त करने के लिए ही है । परमार्थ से तो नवकार मंत्र फल स्वर्ग और मोक्ष है । फिर कहा गया है कि नाभिकमल में सर्वतोमुखी **'अ'** कार, शिरःकमल में **'सि'** कार मुख कमल में **'आ'** कार, हृदय कमल में **'उ'** कार तथा कंठ कमल में **'सा'** कार रहा हुआ है, इस प्रकार ध्यान करना और अन्य भी सर्वकल्याणकारी मंत्र बीजों का चिंतन करना चाहिए ।

इस लोक के फल की इच्छा करने वाले को ॐकार के साथ पाठ करना चाहिए और निर्वाणपद की अभिलाषा रखनेवाले को ॐकार रहित पाठ करना चाहिए । इस प्रकार चित्त को स्थिर करने के लिए इस मंत्र के वर्णो और पदों को अनुक्रम से अलग–अलग कर के भी जप होता है । शास्त्रों में जप आदि का बहुत बड़ा फल बताया गया है । जैसे–

पूजाकोटिसमं स्तोत्रं, स्तोत्रकोटिसमो जपः ।
जपकोटिसमं ध्यानं, ध्यानकोटिसमो लयः ।

करोड़ों पूजाओं के समान एक स्तोत्र है, करोड़ों स्तोत्र के समान एक जप है, करोड़ों जप के समान एक ध्यान है और करोड़ों ध्यान के समान एक लय है । लय यानी चित्त की लीनता, एकाग्रता, स्थिरता अथवा स्वरूपरमणता और यही ध्यान की सर्वोत्तम स्थिति है ।

सर्वोत्कृष्ट भावमंगल

'मंग्यते साध्यते हितमनेनेति मंगलम् ।'

जिससे हित सिद्ध होता है, वह मंगल है । हित मंगल है । हित धर्म से ही सिद्ध होता है । इसलिए हितसाधक धर्म को देनेवाला मंगल है । **'मंगं धर्म लातीति मंगलम् ।'** मंग यानी धर्म, उसे देता है, वह मंगल है । मंगल का यह अर्थ भी किया जाता है । धर्म की प्राप्ति अधर्म के नाश से होती है और सभी अधर्मों का मूल कारण संसार है । इसलिए संसार का क्षय करे वह मंगल, यह तीसरा अर्थ भी मंगल का होता है । **'मां भवात् संसारात् गालयति अपनयतीति मंगलम्'** मुझे संसार से अलग, संसार से दूर करता है वह मंगल है ।

इस प्रकार मंगल यानी हित का साधन, मंगल यानी धर्म का उपादान और मंगल यानी अधर्म के मूल संसार का ही मूलसहित उच्छेदन ।

सुखसाधक और दु:खनाशक पदार्थ को मंगलरूप मानने की रूढ़ि संसार में प्रसिद्ध है । परंपरा से भी दु:ख को नष्ट करनेवाले और सुख दिलानेवाले पदार्थ मंगल माने जाते हैं । जिनमें कष्ट निवारण करने या सुख देने का संदिग्ध सामर्थ्य होता है, ऐसी वस्तुएँ भी मंगलरूप गिनी जाती हैं । जैसे कि दही, दूर्वा, अक्षत, श्रीफल, पूर्णकलश, स्वस्तिक आदि पदार्थ, जो सुख के निश्चित साधन नहीं हैं, फिर भी वे लोक में मंगल रूप गिने जाते हैं । इस प्रकार सुख के निश्चित या संदिग्ध साधनभूत होनेवाली सभी वस्तुएँ जगत् में मंगलरूप मानी जाती हैं ।

अहिंसा, संयम और तप रूप धर्म तथा स्वाध्याय, ध्यान, ज्ञानादि गुण ये दु:ख, ध्वंस और सुखसिद्धि के निश्चित साधन हैं, इसलिए इन्हें भावमंगल माना जाता है । दही, दूर्वा, अक्षत, श्रीफल, स्वस्तिक और पूर्ण कलशादि संदिग्ध साधन हैं, इसलिए इन्हें द्रव्य मंगल माना जाता है । द्रव्यमंगल जैसे सुख के संदिग्ध साधन हैं, वैसे वे अपूर्ण सुख देते हैं । भावमंगल सुख के निश्चित साधन हैं और उनको

अपनाने वाले को संपूर्ण सुख देते हैं । इसलिए द्रव्यमंगल की तुलना में भावमंगल का मूल्य बहुत बढ़ जाता है ।

जैन शास्त्रों में सभी प्रकार के भावमंगलों में श्री पंचपरमेष्ठी नमस्कार को सर्वोत्कृष्ट भावमंगल कहा है । इसके दो मुख्य कारण हैं–स्वयं गुणरूप है, और 2. वह गुणों के बहुमानस्वरूप है । अहिंसा, संयम, तप, स्वाध्याय, ध्यान और ज्ञान स्वयं गुण रूप हैं, लेकिन वे गुणों के बहुमानस्वरूप नहीं हैं ।

श्री पंचपरमेष्ठी नमस्कार सभी सद्गुणों में शिरोमणि **'विनय'** सद्गुण के पालनस्वरूप है और सभी दुर्गुणों में शिरोमणि **'अहंकार'** रूपी दुर्गुण का नाश करनेवाला है । मोक्ष का मूल विनय है । विनय के बिना ज्ञान नहीं है, ज्ञान के बिना दर्शन नहीं है, दर्शन के बिना चारित्र नहीं है और चारित्र के बिना मोक्ष नहीं है ।

दूसरे ढंग से सोचा जाए तो मोक्ष के लिए चारित्र की आवश्यकता होती है, चारित्र के लिए दर्शन (श्रद्धा) आवश्यक है, श्रद्धा के लिए ज्ञान जरूरी है और ज्ञान के लिए विनय की जरूरत है । योग्य का विनय सद्विनय है । श्री पंचपरमेष्ठी नमस्कार में तात्त्विक गुणों को धारण करने वाले (विनय के लिए योग्य त्रिकाल और त्रिलोकवर्ती) सभी व्यक्तियों को नमस्कार किया जाता है ।

पंचपरमेष्ठी नमस्कार में नमस्कार योग्य व्यक्ति सर्वप्रधान होने से **'विनयप्रधानत्वात्'** उनको किया गया नमस्कार सभी विनयों में प्रधान विनयस्वरूप बन जाता है । प्रधान विनयगुण के पालन से प्रधान ज्ञान, प्रधानदर्शन (श्रद्धा), प्रधान चारित्र और प्रधान सुख की प्राप्ति होती है । परमेष्ठियों को नमस्कारस्वरूप प्रधान विनय गुण के पालन के बिना प्राप्त ज्ञान, ध्यान या संयम सर्वप्रधान मोक्षसुख देने के लिए समर्थ नहीं हो सकते हैं ।

श्री पंचपरमेष्ठी नमस्कार जैसे प्रधान विनयगुण के पालनस्वरूप है, वैसे ही वह प्रधान गुणों के बहुमान स्वरूप भी है । गुणबहुमान यह

चित्त का अचिन्त्य शक्तियुक्त धर्म है । गुणबहुमान के आशयवाला चित्त थोड़े ही समय में सभी प्रकार की अशुद्धियों और दोषों से रहित बन जाता है ।

कच्ची मिट्टी के घड़े में भरा पानी जैसे प्रतिक्षण घड़े का नाश करता है, वैसे चित्तरूपी कुंभ में होनेवाला गुणबहुमान रूपी पानी चित्त के दोषों और मलिनता का प्रतिक्षण क्षय करता है । गुणबहुमान को धारण करनेवाला मानसिक भाव जैसे अचिंत्य प्रभावसंपन्न होता है, वैसे ही गुणबहुमान को प्रकट करने वाली वाचिक और कायिक चेष्टाएँ भी अचिंत्य प्रभावसंपन्न बन जाती हैं । श्री पंचपरमेष्ठी नमस्कार में यो तीनों बातें होती हैं—मन से नमन करने का भाव, वचन से नमन का शब्द और काया से नमन की क्रिया । इस तरह ज्ञान, शब्द और क्रिया रूप त्रिविध क्रियाओं से युक्त पंचपरमेष्ठी नमस्कार पापध्वंस और कर्मक्षय का अनन्य साधन बन जाता है । इसीलिए वह सर्वोत्कृष्ट भावमंगलरूप है । इसीलिए श्री पंचपरमेष्ठी नमस्कार की चूलिका में कहा है—

एषः पंचनमस्कारः सर्वपापप्रणाशनः ।
मंगलानां त सर्वेषां, प्रथमं भवति मंगलम् ।।

अर्थात् पाँचों परमेष्ठियों को किया गया नमस्कार सभी पापों का विशेष रूप से नाश करने वाला है और सभी मंगलों में सर्वोत्कृष्ट मंगलस्वरूप है ।

नमस्कारमंत्र में आठ प्रकार की सिद्धियाँ

श्री नवकार मंत्र सर्वोत्कृष्ट भावमंगलस्वरूप है । उसका दूसरा कारण यह भी है कि नवकार के पदों में आठ महासिद्धियाँ छिपी हुई हैं । जैसे, श्री नवकार के प्रथम **'नमो'** पद में **'अणिमा'** सिद्धि है, जिसके मुख्य कारण निम्नलिखित हैं—

1. **'नमो'** संस्कृत के **'नमस्'** अव्यय से बना है और **'नमस'**, नाम **'नम्'** धातु को **'असुच्'** प्रत्यय लगाने से बनी है । **'नम्'** धातु का

अर्थ **'नमन करना'** होता है । **'नमन करना'** अथवा **'नम्रता धारण करना'** यह मनोवृत्ति का धर्म है । नमन की मनोवृत्ति सबसे अधिक सूक्ष्म मानी गई है, इसलिए **'नमो'** पद का ध्यान **'अणिमा'** सिद्धि को प्राप्त कराने वाला होता है ।

2. संस्कृत में **'नमस्'** शब्द को आदि और मध्य अक्षरों का व्यत्यय (उल्टा-सीधा क्रम) किया जाए तो **'मनस्'** शब्द बनता है । प्राकृत में इस प्रकार अक्षरों का व्यत्यय भी होता है । मनोगति अतिसूक्ष्म होने से **'नमो'** पद के ध्यान से **'अणिमा'** सिद्धि प्राप्त होती है ।

3. **'अणिमा'** शब्द अणु शब्द के भाव अर्थ में बना है । प्राकृत शैली से **'अणिमा'** शब्द से **णमो** शब्द बन सकता है । वह इस प्रकार- **'अणुइमा'** में से **'अणु'** का **'उ'** कार **'मा'** के आगे ले जाने से **मो** हो जाता है और प्रारंभिक **'अ'** कार **'ण्'** कार के आगे ले जाने से **'ण'** कार पूर्ण हो जाता है । इससे **'णइमो'** पद बना । **'इ'** कार का लोप करने से **'णमो'** पद बाकी रहता है । प्राकृत में **'बहुलम्'** सूत्र से स्वर, संधि, लिंग, धातु, अर्थ आदि का व्यत्यय माना गया है । इस प्रकार **'अणिमा'** शब्द से बने **'णमो'** पद के ध्यान से **'अणिमा'** सिद्धि प्राप्त होती है ।

श्री नवकार के **'अरिहंताणं'** पद में महिमा सिद्धि समाई हुई है । उसके कारण ये हैं :-

1. **'अरिहंताणं'**, इस प्राकृत पद का संस्कृत पर्याय **'अर्हताम्'** है । **'अर्ह् पूजायाम्'** अथवा **'अर्ह्-प्रशंसायाम्'** धातु से **'अर्हन्'** शब्द बना है । जो पूजा और प्रशंसा करने योग्य है, वे **'अर्हन्'** कहलाते हैं । पूजा और प्रशंसा का हेतु अरिहंतों का महत्त्व अथवा महिमा है । ऐसी महिमा से युक्त अरिहंतों का ध्यान करने से महिमा सिद्धि की प्राप्ति होती है ।

2. **'अरिहंताणं'** इस पद का दूसरा संस्कृत पर्याय **'अरिहंतृणाम्'** भी होता है । जो काम-क्रोध द्वेष आदि अंतरंग शत्रुओं का विनाश करते हैं वे **'अरिहंत'** कहलाते हैं । शत्रुओं का नाश करना यह महत्त्वपूर्ण कार्य

है । ऐसा महत्त्वपूर्ण कार्य करनेवाले अरिहंतरूपी महानुभाव परमेष्ठियों का ध्यान करने से **'महिमा'** सिद्धि प्राप्त करते हैं ।

श्री नवकार के **'सिद्धाणं'** पद में गरिमा सिद्धि समाई हुई है । इसके कारण ये हैं–

1. सिद्धाणं यह पद गुरु मात्राओं से बना हुआ है और अपने स्वरूप से ही गुरुभाव गरिमा का सूचक है । इसलिए उसका ध्यान या जप **'गरिमा'** सिद्धि की प्राप्ति कराता है ।

2. **'सिद्धि'** पद यानी मोक्ष । वहाँ जाने वाले–गए हुए–जीव सिद्ध कहलाते हैं । सिद्धि पद सबसे बड़ा है । इसलिए सिद्ध पद पर स्थित महात्माओं के ध्यान से **'गरिमा सिद्धि'** प्राप्त होती है ।

3. सिद्धिदायक पदों में **'सिद्धाणं'** यह तीसरा पद है । इसलिए भी वह तीसरी **'गरिमा'** सिद्धि दिलाने वाला है ।

श्री नवकार में **'आयरियाणं'** इस पद में **'लघिमा'** सिद्धि समाई हुई है । उसके कारण इस प्रकार हैं–

1. लघु शब्द को भाव अर्थ का प्रत्यय लगाने से **'लघिमा'** शब्द बनता है । आचार्यों का यह स्वभाव होता है कि वे उपदेश आदि द्वारा दूसरों को प्रतिबोध करते है, इसलिए लोक में रहे हुए उपदेश्य वर्ग की ओर वे हरदम लाघव स्वभाव से देखते हैं । लाघव स्वभाव से देखने वाले आचार्यों के ध्यान से **'लघिमा'** सिद्धि प्राप्त होती है ।

2. आचार्य समस्त जगत् को शिक्षा देने वाले होते हैं और उनके आगे समस्त जगत् छोटा यानी शिक्षा लेने योग्य होता है । आचार्य भगवंत दीक्षादाता हैं, अतः गुरु हैं और जगत् के प्राणी शिक्षा ग्रहण करने वाले, अतः लघु हैं । आचार्यों की आराधना हृदय में लघुभाव रखकर ही हो सकती है । इसलिए भी **'आयरियाणं'** पद के ध्यान और जप से **'लघिमा'** सिद्धि की प्राप्ति होती है ।

श्री नवकार के **'उवज्झायाणं'** पद में **'प्राप्ति'** सिद्धि रही हुई है । उसके कारण ये हैं–

1. **'उप'**, **'अधि'** और **'आय'** इन तीन शब्दो से उपाधाय पद बना है । उनमें **'उप'** और **'अधि'** ये दोनों उपसर्ग हैं । मुख्य पद **'आय'** है, जिसका अर्थ **'प्राप्ति'** होता है । **'उप'** यानी समीपता आदि के द्वारा, **'अधि'** यानी अंत:करण में ध्यान करने से और **'आय'** यानी ज्ञानादि गुणों की प्राप्ति जिनसे होती है, वे उपाध्याय हैं । इस शब्दार्थ से ही सिद्ध होता है कि **'उवज्झायाणं'** इस पद के ध्यान और जप से **'प्राप्ति'** नामक सिद्धि प्राप्त होती है ।

2. जिनके पास आकर या रहकर शिष्य अध्ययन करते हैं, वे उपाध्याय कहलाते हैं । अथवा पास रहनेवाले या आनेवाले साधुओं को जो सिद्धांत का अध्ययन कराते हैं, वे उपाध्याय कहलाते हैं । अथवा जिनके पास रहने से श्रुत का लाभ होता है, उन्हें उपाध्याय कहते हैं । इसलिए आराधनारूप सामीप्यकरण से श्रुत का लाभ करानेवाले **'उवज्झायाणं'** इस पद के जप और ध्यान से **'प्राप्ति'** नामक सिद्धि प्राप्ति होती है ।

श्री नवकार के **'सव्वसाहूणं'** इस पद में **'प्राकाम्य'** सिद्धि समाई हुई है । उसके कारण ये हैं–

1. साधुओं को किसी भी तरह की कामना नहीं होती है । वे हरदम पूर्ण इच्छा वाले (निरिच्छ) होते हैं । पूर्णकाम होने के कारण उनका ध्यान करने से ध्यान करनेवाले को भी **'पूर्णकामना'** अथवा **'प्राकाम्य'** सिद्धि प्राप्त होती है ।

2. जो दूसरो का कार्य सिद्ध करते हैं, वे साधु कहलाते हैं । **'साधु'** शब्द का यह अर्थ ही इस बात को प्रकट करता है कि साधुजन दूसरों की कामनाओं तथा कार्यों को पूर्ण करते हैं । इसलिए **'सव्वसाहूणं'** इस पद के ध्यान से **'प्राकाम्य'** सिद्धि की प्राप्ति होती है ।

श्री नवकार के **'पंचनमुक्कारो'** इस पद में **'ईशित्व'** सिद्धि समाई हुई है । उसके कारण ये हैं–

1. **'पंच'** शब्द से पंचपरमेष्ठियों का ग्रहण होता है । परम यानी

सर्वश्रेष्ठ, ऐसे स्थान पर स्थित, उन्हें परमेष्ठी कहते हैं। सर्वोत्तम स्थान पर रहनेवाले होने से पंचपरमेष्ठी सबके **'ईश'** अर्थात् स्वामी हैं। नमस्कार शब्द प्रणाम का वाचक है। इसलिए ईश-स्वरूप परमेष्ठियों को नमस्कार करने से **'ईशित्व'** सिद्धि प्राप्त होती है। उत्तम स्वामियों का यह स्वभाव ही होता है कि वे अपने आश्रितों तथा आराधकों को वैभव के बारे में अपने समान बना देते हैं।

2. **'पंचनमुक्कारो'** इस प्राकृत पद का संस्कृत पर्याय **'प्राञ्चनमस्कारः'** होता है। **'प्रकर्षेण अञ्च्यन्ते पूज्यन्ते सुरासुरैः अष्टप्रातिहार्येण अति प्राञ्चाः, जिना तेषां नमस्कारः प्राञ्चनमस्कारः।'** अर्थात् जो सुरासुर देवों द्वारा आठ महाप्रातिहार्यों से प्रकृष्ट भाव से पूजे जाते हैं, वे प्राञ्च अर्थात् जिन हैं। उनको नमस्कार यानी **'प्राञ्चनमस्कार'** अथवा **'जिन नमस्कार।'**

जिन-भगवान् सभी सचराचर जगत् के ईश अर्थात् स्वामी हैं। उनके **'ईशत्वभाव'** के कारण **'पंचनमुक्कारो'** इस पद से **'ईशित्व'** सिद्धि प्राप्त हो जाती है।

3. **'प्राञ्चन्ति–गच्छन्ति सिद्धिधाम इति प्रांचाः सिद्धाः।'** यहाँ प्रांच शब्द से सिद्ध भगवंतों को जानना चाहिए। वे फिर से संसार में आने वाले न होने से मोक्षनगरी के ईश अथवा इसी कारण से भव्य जीव गुणसमूह के ईश बने हैं। इसलिए उनको नमस्कार वाचक **'पंचनमुक्कारो'** इस पद के ध्यान और जप से **'ईशित्व'** सिद्धि प्राप्त होती है।

श्री नवकार के **'मंगलाणं'** इस पद में **'वशित्व'** सिद्धि समाई है–

1. इस संसार में धर्म उत्कृष्ट मंगलरूप है। इसलिए **'मंगलाणं'** इस पद के ध्यान से धर्मध्यान तथा आराधना होती है। धर्म की आराधना के प्रभाव से देवता भी जहाँ वशीभूत होकर उन्हें प्रणाम करते हैं, तो फिर अन्य प्राणी वशीभूत हों, तो उसमें आश्चर्य ही क्या है? इसलिए **'मंगलाणं'** इस पद के जप और ध्यान से **'वशित्व'** सिद्धि मिलती है।

2. जिससे अभीष्ट फल की प्राप्ति होती है, उसका नाम मंगल है। मनुष्य को अभीष्ट की सिद्धि तभी हो सकती है, जब उसके संबंध में आनेवाले सभी प्राणी उसके अनुरूल हों। सभी प्राणियों के अनुकूल होने का नाम ही वशित्व है। इसलिए **'मंगलाणं'** इस जप और ध्यान से वशित्व सिद्धि की प्राप्ति होती है।

3. मंगलवाच्य पदार्थों की संख्या आठ होने से **'मंगल'** शब्द आठ संख्या को सूचित करता है। जैसे बाणों की संख्या पाँच होने से **'बा**ण**'** शब्द से पाँच की संख्या का ज्ञान होता है और नेत्रों की संख्या दो होने से **'नेत्र'** शब्द से दो की संख्या को ग्रहण किया जाता है, उसी प्रकार **'आठ'** संख्या को सूचित करने वाले **'मंगल'** शब्द से **'वशित्व'** नामक आठवीं सिद्धि को सूचित किया जाता है। इसलिए उसका जप और ध्यान **'वशित्व'** नामक आठवीं सिद्धि को देनेवाला है।

12 नवकार का अधिकारी

शास्त्रों में पंचपरमेष्ठी–नमस्कार की बहुत महिमा वर्णन की गई है। उसे सभी मंत्ररत्नों का उत्पति स्थान कहा है। उसका सभी शास्त्रों के प्रारंभ में उच्चारण करने का आदेश दिया गया है। कहा गया है कि उसके प्रत्येक अक्षर के उच्चारण से अनंत कर्मों और उनके अनंत रसों का घात होता है। बल देकर बताया गया है कि सभी कालों के और क्षेत्रों के सभी परमेष्ठियों का प्रणाम रूप होने से वह महामंगल स्वरूप है। पंचपरमेष्ठी-नमस्कार इहलोक तथा परलोक में अनेक प्रकार के वांछितों को पूरा करनेवाला है। इसी को अर्थ, काम, स्वास्थ्य तथा अभिरति (सुखानुभव) और आनंद देनेवाला बताया गया है। इसी को परलोक में सिद्धिगमन अथवा देवलोकगमन अथवा शुभकुल में आगमन बोधिलाभ का कारण कहा है। शास्त्रकार महर्षियों ने स्थान–स्थान पर स्पष्ट बताया है कि सभी सुखों का प्रयोजक और सभी दु:खों का घातक पंचपरमेष्ठी-नमस्कार ही है। भगवान् **श्री हरिभद्रसूरिजी 'योगबिंदु'** नामक ग्रंथरत्न में कहते हैं–

अक्षरद्वयप्येतत्, श्रूयमाणं विधानत: ।
गीतं पापक्षयायोच्चै: योगसिद्धैर्महात्मभि: ।।

अर्थात् सिद्धयोगी होनेवाले तीर्थंकर गणधरादि महापुरुषों ने कहा है कि **'योग'** ये दो अक्षर भी विधिपूर्वक सुनने वाले के लिए अत्यंत पापक्षयकारी बन जाते हैं।

इसी श्लोक की स्वोपज्ञ टीका में वे बताते हैं कि–

'निष्पन्न योगी श्री जिन गणधरादि प्रशस्त स्वभाववाले महत्माओं का कहना है कि (योग के) दो अक्षरों से जब यह होता है, तब पंचनमस्कारादि अनेक अक्षरों के बारे में तो कहना ही क्या ? 'योग' ये दो अक्षर सुनते समय उस प्रकार का अर्थ का ज्ञान न हो तो भी विधिपूर्वक 'श्रद्धा', संवेग आदि भावोल्लास के साथ तथा दो

हाथ जोड़कर मिथ्यात्वमोहनीय आदि अशुभ कर्मों के समूल नाश के लिए होता है ।'

भगवान् श्री हरिभद्रसूरि जी महाराज का उपर्युक्त निरूपण बताता है कि श्री पंच-परमेष्ठी-नमस्कारादि अनेक अक्षर नहीं, बल्कि श्री जिनवचनानुसार **'योग'** इन दो अक्षरों का श्रवण भी अत्यंत पापक्षय करनेवाला होता है । शर्त यही है कि यह सब विधिपूर्वक होना चाहिए । और विधि (विधान) यानी श्रद्धा, संवेग आदि मानसिक भाव और हस्तकमल जोड़ना आदि शारीरिक व्यापार, उपलक्षण से शुद्ध उच्चारण आदि वाचिक क्रियाएँ भी उसमें आती हैं । उस प्रकार के ज्ञान के बिना भी कायिक, वाचिक और मानसिक शुद्ध भावोल्लास के साथ श्री पंचपरमेष्ठी-नमस्कार आदि अक्षरों का श्रवण अति क्लिष्ट पापों के क्षय का मुख्य कारण माना गया है । तो फिर उस प्रकार से ज्ञान के साथ शुद्ध और स्पष्ट शब्दोच्चारण के साथ उसका उच्चारण अथवा मनन, चिंतन और निदिध्यासन आदि अत्यंत अशुभ कर्मों के क्षय का परम कारण बने, इसमें तो पूछना ही क्या है ?

तथा प्रकार के क्षयोपशम के अभाव में अर्थ का निश्चय कम–अधिक हो सकता है, लेकिन वह उतना बाधक नहीं है, जितना बाधक विधि का अभाव, श्रद्धा, संवेग आदि भावोल्लास का अभाव है । क्षयोपशम के कारण अर्थ का निश्चय अधिक भी हो सकता है, लेकिन विधि के प्रति बेदरकारी हो, तो वह फलप्राप्ति के लिए अयोग्य सिद्ध होता है । सामान्य अर्थबोधवान् भी विधि के प्रति चिंता सावधान हो तो वह आत्मा पापक्षय आदि उच्च फलों की भोक्ता बन सकती है ।

श्रद्धा, 'तथेति प्रत्ययः।' 'यह ऐसा ही है' ऐसा विश्वास, अथवा **'यही परमार्थ है'** ऐसी बुद्धि । और संवेग, **'मोक्षाभिलाषा'** अथवा **'यही आराधना करने योग्य है, ऐसा ज्ञान ।'** भावोल्लास के लिए इस प्रकार की श्रद्धा और संवेग की बहुत आवश्यकता है । जब तक `पंचपरमेष्ठी-नमस्कार ही परमार्थ हैं, ऐसा विचार नहीं आता और

'दुःख और उसके कारणभूत पापों से रहित होने के लिए यही एक परम साधन है' ऐसा आंतरिक ज्ञान नहीं होता; तब तक ''अरिहंत बारह गुणों से युक्त होते हैं और सिद्ध आठ गुणों से पूर्ण होते हैं, आठ प्रातिहार्य और चार मूलातिशय मिलकर बारह गुण गिने जाते हैं अशोकवृक्ष, सुरपुष्पवृष्टि आदि आठ प्रातिहार्यों के नाम हैं ।

अपायापगमातिशय, ज्ञानातिशय आदि चार मूल अतिशय कहलाते हैं ।

आठ कर्मों के क्षय से सिद्ध परमात्मा के आठ गुण उत्पन्न होते हैं । आठ कर्मों की कर्मप्रकृतियाँ 158, सत्ता में 148, बंध में 120, उदय में 122, उदीरणा में 122 होती हैं–बंध, उदय, उदीरणा और सत्ता इन चारों प्रकारों से जो कर्मरहित होते हैं, वे सिद्ध कहलाते हैं ।'' इससे भी पंचपरमेष्ठी और उनके गुणसंबंधी सूक्ष्मातिसूक्ष्म ज्ञान धारण करनेवाली आत्मा उनके प्रति श्रद्धा और संवेग से शून्य हो, तो वह फलप्राप्ति के लिए अधिकारी नहीं होती है ।

अरिहंत परमात्मा मोक्षमार्ग के उपदेशक हैं । सिद्ध परमात्मा मोक्ष प्राप्त किए हुए हैं । मोक्ष अनंत सुख का धाम है । जन्म–मृत्यु या भूख–प्यास आदि पीड़ाओं का वहाँ नामोनिशान भी नहीं है । दुःख का स्थान तो चार गतियों के रूप में होनेवाला संसार है । यह संसार आधि, व्याधि और उपाधियों से भरपूर है । जब तक इस संसार में परिभ्रमण नही रुकता है, तब तक दुःख का अंत नहीं आता है । अरिहंत परमात्माओं ने केवलज्ञान से यह देखा है । वे स्वपुरुषार्थ से कर्मरहित बने हैं और दूसरों को वे कर्मररहित बनने का मार्ग बता गए हैं । इस मार्ग पर चलनेवाले जीव पहले भी दुःखरहित हुए हैं और आज भी दुःखरहित हो रहे हैं । वे ही अनंत सुखों के भोक्ता बन रहे है और आज भी बनते हैं ।

इस मार्ग के प्रति होनेवाली श्रद्धा के अभाव से ही जीव चारों गतियों में दुःख का अनुभव करता है । दुःखनाश और सुखप्राप्ति का पारमार्थिक उपाय अरिहंत जान सकते हैं । अन्य लोग उसे कहने से ही

जान सकते हैं । अरिहंत या सर्वज्ञ बने बिना जो सुखप्राप्ति का मार्ग बताते हैं, वे श्रद्धा रखने योग्य नहीं होते हैं । अपूर्ण ज्ञानी के बताए हुए मार्ग पर चलना इष्ट नहीं है । संपूर्ण ज्ञानी के द्वारा बताए मार्ग पर चलना ही इष्ट है ।

ज्ञानियों के द्वारा बताया गया मार्ग ऊपरी दृष्टि से देखने पर कष्टपूर्ण लगे, तो भी आदरणीय है । अज्ञानी अथवा अपूर्ण ज्ञानी के द्वारा बताया हुआ मार्ग आसान लगे, तो भी आदरणीय नहीं है ।

समस्त दु:खो का जहाँ सदा काल के लिए नाश होता है, ऐसा मोक्ष पाने का मार्ग आसान हो ही नहीं सकता । अधिक कष्टों से बचने के लिए थोड़ा सा कष्ट, यह कष्ट नहीं गिना जाता है । संसार के क्षणिक सुख भी बिना कष्ट नहीं मिलते हैं, अत: मोक्ष के अनंत सुख बिना कष्ट के या खाते–पीते हुए मिलेंगे ऐसा मानना भ्रमपूर्ण है ।

जो जीव इतना जानते हैं, जिनके अंत:करण में निरंतर श्रद्धा और संवेग से भरपूर विचार हैं, वे ही पंचपरमेष्ठी-नमस्कार क्रिया के यथार्थ फल के उपभोक्ता बन सकते हैं ।

अर्थज्ञान प्राप्त होने के बाद संवेग की क्या आवश्यकता है ? ऐसा कहना ठीक नहीं है । जब तक अर्थज्ञान के साथ–साथ श्रद्धा, संवेग आदि नहीं मिलते है, तब तक वह क्रिया भावक्रिया नहीं बन सकती है । शास्त्रकारों ने सर्वत्र भाव को ही फलदायी माना है । **'भाव'** उपयोगस्वरूप होता है । उपयोग के बिना होनेवाली अर्थज्ञानयुक्त और शुद्ध क्रिया को भी शास्त्रकारों ने द्रव्यक्रिया कहा है । ***'अनुपयोगो द्रव्यमिति वचनात् ।' अर्थात् अनुपयोग ही द्रव्य है, यही शास्त्रकारों का कथन है । उपयोग युक्त होनेवाली शायद अशुद्ध अथवा अर्थहीन क्रिया भी भावक्रिया का कारण बन सकती है । इसके विपरीत उपयोगशून्य होनेवाली और अर्थज्ञानयुक्त क्रिया भी भावक्रिया और उसका प्रत्यक्ष कारण नहीं बन सकी है ।***

उपयोग की यह प्रधानता न केवल धर्मक्रिया में है, बल्कि वह सभी

अच्छी–बुरी क्रियाओं में है । अनुपयोग से हुआ अपराध जैसे संसार में या सरकार में भी मुख्य अपराध नहीं माना जाता, उसी प्रकार बिना उपयोग से होने वाला अच्छा कार्य भी संसार में अच्छा या प्रशंसनीय नहीं गिना जाता है ।

अन्य दार्शनिकों का भी कहना है कि **'मन एव मनुष्याणां कारणं बंधमोक्षयोः ।'** जिसमें मन मिला नहीं होता, वह क्रिया जैसे मोक्ष का हेतु नहीं होती, वैसे ही वह उस प्रकार के बंध का हेतु भी नहीं होती है ।

मनःशुन्यता अथवा उपयोगशुन्यता से होने वाली पंचपरमेष्ठी नमस्कार क्रिया के साथ में मन को जोडने के लिए जितनी आवश्यकता अर्थज्ञान की है, उससे कई गुना अधिक आवश्यकता श्रद्धा और संवेग की होती है ।

श्रद्धा और संवेग से युक्त और पंचपरमेष्ठी-नमस्कार क्रिया के प्रति भक्ति और आदर रखने वाले पुण्यवान् जीव सामग्री के अभाव से अति अल्प अर्थज्ञान रखनेवाले होने पर भी उससे जो लाभ उठा सकते हैं, वह लाभ श्रद्धा, संवेग, भक्ति और आदर आदि से शून्य बड़े तत्त्ववेत्ता और पंडित माने जानेवाले लोग भी नहीं पा सकते हैं ।

श्री पंचपरमेष्ठी-नमस्कार के सच्चे अधिकारी श्रद्धा, संवेग आदि गुणों से विभूषिच पुरुषरत्न होते हैं । फिर वे साधु हो, साध्वी हों, श्रावक हों, श्राविका हों अथवा अच्छे परिणाम रखनेवाले मिथ्यादृष्टि हों ।

श्री महानिशीथ आदि सूत्रों का योगोद्वहन करनेवाले संयमी, शुद्ध चारित्र वाले और शास्त्रोक्त विधि-विधान के प्रति पूरा आदर धारण करनेवाले निर्ग्रंथ मुनिराज के मुख से, श्री उपधान आदि तप करने के साथ ग्रहण किया गया नमस्कार विधिपूर्वक ग्रहण किया हुआ माना जाता है ।

इस प्रकार विधिपूर्वक अथवा विधि के प्रति संपूर्ण आदर धारण कर अवसर मिलने पर इस विधि को आचरण में लाने की धारणा रखकर नवकार ग्रहण करनेवाला नवकार के द्वारा यथेष्ट फल प्राप्त कर सकता है ।

श्री नवकारमंत्र का अधिकारी श्रद्धावान् होता है। यह श्रद्धा बढ़ाने के लिए पंचपरमेष्ठियों के मुख्य उपकार क्या हैं ? इसका बार–बार किया जाने वाला मनन–चिंतन बहुत उपयुक्त सिद्ध होता है। शास्त्रों में इन उपकारों को पाँच विभागों में विभाजित कर समझाया गया है।

पंचपरमेष्ठियों के पाँच उपकार

अरिहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु–ये पाँच परमेष्ठी हैं अर्थात् परमपद पर विराजमान पाँच विभूतियाँ है। जाति से वे पाँच हैं, लेकिन व्यक्तिशः अनंत है। वे तीनों काल और तीनों लोकों में प्रतिष्ठित हैं। वे चार निक्षेपों और पाँच पदों से आराध्य हैं। इस विश्व को अलंकृत करनेवाले वे पाँच अद्वितीय रत्न हैं। सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप–इन चार रत्नों की कांति से विश्व को वे उज्ज्वल बनाते हैं। पंचपरमेष्ठी और उनके गुण अपने तेज से त्रिभुवन में प्रकाशित हैं। जो उनके प्रकाश को देख नहीं सकते हैं, उनके बारे में यह कहा सकता है कि वे घोर अधंकार की छाया के नीचे रहे अभागे जीव हैं

अरिहंतों का उपकार–मार्गदर्शन

जैसे अरिहंत स्वयं वीतराग, सर्वज्ञ और तीनों भुवनों में पूजनीय हैं, वैसे ही सिद्ध भगवंत और सामान्य केवलज्ञानी भी वीतराग, सर्वज्ञ और सर्वपूजनीय हैं। इसलिए अरिहंतों की विशेषता उनकी मार्गदर्शकता है।

मोक्षमार्ग के प्रथम मार्गदर्शक होने का सम्मान अरिहंतों के पक्ष में जाता है। जो जन्म लेते समय तीन ज्ञान सहित होते हैं और दीक्षा के समय चतुर्थ ज्ञान पाते हैं वे अरिहंत ही केवलज्ञान पाकर मोक्षमार्ग दिखाते हैं। अन्य किसी में यह शक्ति नहीं है। सिद्ध भगवंत देहरहित होने से और सामान्य केवलज्ञानी अतिशययुक्त न होने से मोक्षमार्ग के आद्यदर्शक नहीं बन सकते हैं।

सिद्धों का उपकार–अविनाशिता

अरिहंतों के अरिहंतपने का भी उनकी आयु समाप्त होने पर अंत आता है । सिद्धों का सिद्धत्व अविनाशी है । काल की छलांगे भी सिद्धों के गुण या सुख के किसी अंश पर आक्रमण नहीं कर सकती हैं ।

सिद्धों के गुण और सुख अव्याबाध होते हैं । अव्याबाध गुण या अव्याबाध सुख सिद्धों को छोड़कर अन्य किसी में नहीं होता है । अरिहंत भी आयुकर्म के अंत तक देह पर अवलंबित होते हैं, लेकिन सिद्धों की स्वतंत्रता के आड़े आने की शक्ति किसी भी वस्तु में नहीं है । इसलिए अरिहंत भी सिद्धत्व प्राप्ति के लिए ही प्रयास करते हैं और जगत् को भी इसी सिद्धत्व के मार्ग पर ही ले जाने का प्रयास करते हैं ।

आचार्यों का उपकार–आचार

अरिहंत देहधारी होते हैं । फिर भी सभी क्षेत्रों और सभी कालों में उनकी उपस्थिति संसार में नहीं होती है । सिद्ध देहरहित होते हैं और संसार के पार चले गए होते है । इसलिए मुक्ति का मार्ग सभी क्षेत्रों और सभी कालों में आचार्यों से ही चलता है ।

आचार्य आचारों के पालन से ही मोक्षमार्ग चलाते हैं । मोक्ष का मार्ग पाँच प्रकार के आचारों में विभक्त है । आचार्य इन पाँचों प्रकार के आचारों को मन, वचन और काया से इस तरह अमल में लाते हैं कि योग्य आत्माओं के सामने उस मार्ग का प्रकाश फैलता है । उसमें से अनेक योग्य आत्माएँ मोक्षमार्ग की आराधना की ओर अनायास आकृष्ट होती हैं ।

उपाध्यायों का उपकार–विनय

आचार्य राजा के स्थान पर होते हैं, तो उपाध्याय मंत्री के स्थान पर होते हैं । आचार्यों के प्रति स्वयं विनय करना और दूसरों से कराना यह उनका मुख्य कर्तव्य है । **'विनय के बिना जैसे विद्या नहीं होती, वैसे विनय के बिना धर्म भी नहीं होता है ।'** यह तथ्य उपाध्याय भगवंत निरंतर जगत् के सम्मुख रखते है । **'विनय के नाश में विद्या का नाश**

होता है, वैसे विनय के नाश में धर्म का भी नाश होता है' यह सत्य जगत् को सिखाने का काम उपाध्याय करते हैं । आचार्यों से जैसे सदाचारों की रक्षा होती है, वैसे उपाध्यायों से विनय आदि सद्गुणों की रक्षा होती है । वे स्वयं विनय करते हैं और दूसरों से विनय कराते हैं ।

विनय से ज्ञान, ज्ञान से दर्शन (श्रद्धा), दर्शन से चारित्र और चारित्र से मोक्ष वे स्वयं पाते हैं और दूसरों को प्राप्त कराते हैं ।

साधुओं का उपकार–सहायता

आचार्यों से आचार और उपाध्यायों से विनय पाकर मुक्तिमार्ग की साधना में मग्न होनेवाले साधु, मुक्तिमार्ग की अभिलाषी भव्य आत्माओं को मुक्तिमार्ग में अनन्य सहायक बनते हैं । अर्थ–काम आदि अन्य सभी क्षेत्रों में अन्य सब की सहायता पाना आसान है, लेकिन मुक्तिमार्ग में साधुओं की सहायता के बिना अन्यों की सहायता पाना कठिन है ।

साधुओं की साधना ही इस प्रकार की होती है कि उस साधना से भव्य आत्माओं को मुक्तिमार्ग की आराधना के लिए आवश्यक सहायता अनायास मिलती है । साधु से यह सहायता पानेवाले को एक पाई का भी खर्च करना नहीं पड़ता है ।

साधुओं से इच्छुक आत्माओं को ज्ञान भी मुफ्त मिलता है । उन्हें साधु से दर्शन, चारित्र, शील और तप भी मुफ्त मिलते हैं । इसके परिणामस्वरूप स्वर्ग और अपवर्ग के सुख भी मुफ्त मिलते हैं । उसके बदले में साधु कुछ नहीं चाहते हैं । साधुओं का यह अनन्य उपकार है ।

इस प्रकार मार्ग, अविनाशिता, आचार, विनय और सहायता ये पंचपरमेष्ठियों के अनंत उपकारों में से चुने पाँच प्रधान उपकार हैं । उन्हें ध्यान में रखने से परमेष्ठियों के प्रति सच्चा आदर भाव जगता है । यह आदरभाव ही जीव को नवकारमंत्र का सच्चा अधिकारी बनाता है ।

नमस्कार का निश्चय स्वरूप

(उपसंहार)

मंत्राधिराज श्री पंचपरमेष्ठि–नमस्कार मंत्र की जैनशासन में खूब महिमा है । श्री जैनशासन के सभी शास्त्रों में इसकी महिमा बतानी गई है और इसलिए जैनकुल का नन्हा बच्चा भी नवकार को अवश्य जानता है । नवकार को चौदह पूर्वों का सार कहा गया है अर्थात् चौदह पूर्व समस्त जैनशासन का सार है और नवकार महामंत्र उन चौदह पूर्वों का भी सार है । अर्थात् सार का भी सार नवकार है ।

इस ग्रंथ में भी नवकार की महिमा अनेक प्रकार से बताने का प्रयत्न किया गया है । नवकार मंत्र की इतनी सारी महिमा की बातें पढ़ने–सुनने या सोचने के बाद जिज्ञासु जीव के मन में अवश्य यह प्रश्न होगा कि मंत्र में ऐसा क्या है ? जिससे उसकी इतनी सारी महिमा वर्णन की जाती है । कहने मात्र के लिए तो जिस किसी वस्तु की महिमा जैसे कहनी हो, वैसे कही जा सकती है, लेकिन जब तक उसका रहस्य समझा नहीं जाता है, तब तक पारमार्थिक ढंग से अंतरंग श्रद्धा नहीं हो सकती है और इसीलिए नवकार का पारमार्थिक स्वरूप क्या है ? यह समझना अत्यंत आवश्यक सिद्ध होता है ।

पारमार्थिक रूप कहें या निश्चय स्वरूप कहें, दोनों बाते वैसे एक ही हैं । परमार्थ से नवकार यह हमारी आत्मा ही है, क्योंकि उसके पहले दो पदों में आत्मा का शुद्ध स्वरूप कैसा होता है ? इसका वर्णन किया गया है । अरिहंत और सिद्ध यह आत्मा का ही शुद्ध स्वरूप है ।

बाद में आए तीन पदों में शुद्धस्वरूप की प्राप्ति के उपाय का वर्णन किया गया है । शुद्ध स्वरूप की प्राप्ति का उपाय संवर और निर्जरा है । आचार्य, उपाध्याय और साधु संवर और निर्जरा द्वारा आत्मा के शुद्ध वीतराग स्वरूप की प्राप्ति के लिए निरंतर प्रयत्नशील होते हैं ।

व्यक्ति की ओर ध्यान न देते हुए संवर और निर्जरा स्वरूप की साधना की ओर ही ध्यान दें ,तो कहा जा सकता है कि इन तीन पदों में संयम और निर्जरा का ही स्वरूप बताया गया है ।

नमस्कार करनेवाला जीव आत्मा के शुद्ध स्वरूप और उसकी प्राप्ति के उपाय के रूप में होने वाले संवर और निर्जरा तत्त्व का ही आदर करता है और उसके द्वारा अपने सभी पापों का नाश करता है । यह बात छठे और सातवें पद से व्यक्त होती है । फिर जीव क्रम से इसी उपाय से अपना शुद्ध रूप प्रकट कर सभी काषायिक भावों के दु:खों से बचकर स्वरूप के अनंत आनंद का अनुभव करता है, इसीलीए उसे सर्वप्रथम मंगल माना जाता है । यह बात आठवें और नौवें पद से प्रकट होती है ।

इस प्रकार वस्तुत: नवकार में स्वआत्मा के ही पाँच पर्यायों या अवस्थाओं का वर्णन किया गया है । हमारी आत्मा अरिहंतस्वरूप है, सिद्धस्वरूप है, आचार्यस्वरूप है, उपाध्यायस्वरूप है और साधु स्वरूप है ।

'श्री सिरिसिरिवाल कहा' नामक ग्रंथरत्न में बताया गया है कि–

'जं ज्झाया झायंतो अरिहंतं, रूप–सुपय–पिंडत्थं ।
अरिहंतपदमयं चेव, अप्पं पिक्खेइ पच्चक्खं ।।

अर्थात्, जो ध्याता पिंडस्थ, पदस्थ और रूपस्थ स्वरूप से अरिहंत का ध्यान करता है, वह अपनी आत्मा को प्रत्यक्ष अरिहंतमय देखता है ।

उसी के अनुसरण पर रचे गए **'श्रीपालरास'** में भी कहा गया है कि–

''अरिहंत पद ध्यातो थको, दव्वह गुण पज्जाय रे,
भेद छेद करी आत्मा, अरिहंत रूपे थाये,
वीर जिनेसर उपदिशे ।''

अर्थात्, द्रव्य–गुणपर्याय से जो आत्मा अरिहंत पद का ध्यान करती है, वह आत्मा अरिहंत और अपने बीच होनेवाले भेद का छेद कर स्वयं अरिहंतादि बनती है, ऐसा श्री वीर परमात्मा का उपदेश है ।

श्री **प्रवचनसार** में भी कहा गया है कि–

''जो जाणदि अरहंत, दव्वत्त–गुणत्त पज्जयत्तेहिं ।
सो जाणदि अप्पाणं, मोहो खलु जादि तस्स लयम् ।।''

अर्थात् जो अरिहंत को द्रव्य, गुण और पर्याय से जानता है, वह अपनी आत्मा को जानता है और उससे सचमुच, उसका मोह नष्ट हो जाता है ।

ऐसा लगता है कि इस एक ही गाथा में तमाम शास्त्रों का रहस्य समा गया है । जिस आत्मा को मोह का क्षय कर, अरिहंतस्वरूप होकर, अनंत सुखों का भोक्ता बनना है, उसके लिए इसी एक उपाय का अवलंबन आवश्यक है । अरिहंत के ध्यान से अपनी शुद्धात्मा का स्वरूप समझ में आता है और शुद्ध आत्मस्वरूप को यथार्थ रूप में समझ लेने से पुद्गल में अपनेपन की भ्रांति के रूप में अनादिकाल से जो मिथ्या मोह है, वह अनायास नष्ट हो जाता है ।

अपने आत्मस्वरूप के प्रति यथार्थ श्रद्धा ही सम्यग्दर्शन का मूल है । अरिहंत आत्मा का द्रव्य, गुण और पर्याय से ध्यान करने से यह बात ध्यान में आती है । हमारी आत्मा का भी वही स्वरूप है और यह बात मन में दृढ़ होते ही दूसरे से भिन्न अपने आत्मस्वभाव के प्रति यथार्थ श्रद्धा दृढ़ हो जाती है । आत्म–स्वभाव के प्रति यथार्थ और शुद्ध श्रद्धा से मोह नष्ट हो जाता है ।

अनादिकाल से जीव स्व को भूलकर दूसरे की ओर दृष्टि डालता आया है और इसीलिए उसका राग–द्वेष किसी भी तरह से टलता नहीं है । एक बार भी जीव के मन में इतनी श्रद्धा हो जाए कि निश्चय ही मैं अन्य सभी पदार्थो से भिन्न हूँ और अनंत ज्ञान–दर्शनादि गुणों का पिंड हूँ अन्य पदार्थों से मुझे अणुमात्र भी लाभ या हानि नहीं है तो फिर पर–पदार्थों के प्रति राग–द्वेष का कोई कारण ही नहीं है । वस्तु मात्र अनादिकाल से है और अवश्य है । यदि वस्तु है, तो उस प्रत्येक वस्तु का अपना–अपना स्वभाव भी है । हर वस्तु अपने स्वभाव से ही त्रिकाल

टिकी रहती है । वस्तुस्वभाव स्वतंत्र है, परतंत्र नहीं है । यदि वस्तुस्वभाव पराधीन होगा, तो वस्तु का ही नाश हो जाएगा । वस्तुस्वभाव स्वतंत्र होने से उसकी अवस्थाएँ भी अपने स्वभाव के अनुसार ही स्वतंत्र रीति से प्रकट होती हैं । जीव, पुद्गल, काल, आकाश आदि छह द्रव्य एक–दूसरे में प्रवेश नहीं कर सकते हैं । एक क्षेत्र में होने पर भी एक द्रव्य का अन्य द्रव्यों में प्रवेश नहीं होता है, यह एक बड़ा चमत्कार है ।

पूज्यपाद श्रीमद् **यशोविजयजी महाराज 'ज्ञानसार '**नामक ग्रंथ में चौदहवें अष्टक में कहते हैं कि–

मिथोयुक्तपदार्थानामसंक्रमचमत्क्रिया ।
चिन्मात्रपरिणामेन, विदुषैवाऽनुभूयते ।।

अर्थात, परस्पर मिले हुए जीवपुद्गलादि द्रव्य–पर्यायरूप पदार्थों का असंक्रम अर्थात् एक का दूसरे का स्वरूप न ले सकना, अर्थात् भिन्नता के चमत्कार का ज्ञान मात्र परिणामवंत विद्वान पुरुष के द्वारा ही अनुभव किया जाता है ।

जब एक द्रव्य का अन्य द्रव्य में प्रवेश ही नहीं है, तो वह अन्य में क्या गुण–दोष लाएगा, या क्या लाभ–हानि करेगा? नहीं कर सकेगा । आत्मतत्त्व पर भी यही नियम लागू पडता है ।

आत्मा को दूसरे पदार्थ से न थोडा–सा लाभ हो सकता है न हानि हो सकती है । फिर भी यह जीव अनादि काल से मिथ्या मोह के वश होकर दूसरे से अपने को लाभ–हानि होती है यह मानकर, रागद्वेष की व्याकुलता से एक क्षण के लिए भी अलग नहीं होता है । अज्ञानवश आत्मा स्वयं अपने ही स्वभाव को नहीं पहचानती हैं, इसलिए वह परद्रव्यों के प्रति रागद्वेष से जुड़ती है और परपदार्थों के साथ एकत्व का भ्रम अनुभव करती है । यह एकत्व का भ्रम छुड़ाने और आत्मा को अपने ही स्वभाव में तल्लीन बनाने के लिए शास्त्रकार महर्षियों ने निश्चयनय का अवलंब करने के लिए कहा है ।

श्री सीमंधर स्वामी से की गई प्रार्थना रूप 350 गाथाओं के स्तवन

की सोलहवी ढाल में पूज्य उपाध्याय **श्री यशोविजय जी** महाराज कहते हैं कि–

``शुद्धता ध्यान एम निश्चये आपनुं,
तुझ समापत्ति औषध सकल पापनुं;
द्रव्य अनुयोग संमति प्रमुखथी लही,
भक्ति वैराग्य ने ज्ञान धरिये सही ।''

अर्थात्, शुद्ध स्वरूप का ध्यान निश्चय से अपने स्वरूप का ही ध्यान है । शुद्ध आत्मस्वरूप का यह ज्ञान सभी पापों के नाश की औषधि है, सभी पापों को नष्ट करने वाला रसायन है ।

षड्द्रव्य का विचार करनेवाले **'संमतितर्क'** आदि द्रव्यानुयोग के महाग्रंथ की यह बात जानकर हम भक्ति, वैराग्य और ज्ञानदशा को धारण करते हैं । यहाँ चतुर्थ गुणस्थानक में भक्ति की अवस्था मुख्य है । पाँचवें और छठें गुणस्थानक में वैराग्यदशा मुख्य है और अप्रमत्त संयत से क्षीणमोहादि गुणस्थानक में ज्ञानदशा मुख्य है ।

गौण रूप में ज्ञानदशा चतुर्थ गुणस्थानक में भी ही होती है । जिससे मुख्य रूप से जहाँ भक्ति आदि की आराधना होती है, वहाँ भी शक्ति अनुसार ज्ञान व वैराग्य दशा का अवलंबन भी होता ही है । शुद्धनय के ध्यान की महिमा बताते हुए आगे कहते है–

'जेह अहंकार ममकारनुं बंधन,
शुद्ध नय ते दहे दहन जिम ईंधन;
शुद्ध नय दीपिका मुक्ति मारग भणी,
शुद्ध नय आथी छे साधुने आपनी।'

अर्थात्, अग्नि जैसे लकड़ियों को जला देती है, वैसे ही शुद्ध नय का ध्यान यानी आत्मतत्त्व चिंतन ध्यान अहंकार और ममत्त्व के मूल बंधन–मूल कारण रूप राग–द्वेष को जलाकर भस्म कर देता है ।

शुद्ध नय–निश्चय नय मोक्षमार्ग का दीपक है, क्योंकि मोक्षमार्ग पर जानेवाले को वह प्रकाश देता है और वह शुद्ध नय साधु के लिए उनकी अपनी संपत्ति है, मूल पूंजी है ।

कहा गया है कि

''दीपिका खल्वनिर्वाणा, निर्वाणपथदर्शिनी ।
शुद्धात्मचेतना या च, साधूनामक्षयो निधिः ।।''

अर्थात् जो शुद्ध आत्मचेतना का ध्यान है, वह सचमुच निर्वाण पथ को बतानेवाली और कभी नष्ट न होनेवाली दीपिका है और कभी कम न होनेवाली साधुओं की निधि है ।

फिर उसी में शुद्ध नय के ध्यान का प्रभाव वर्णन किया है कि

सकल गणिपिटकनुं सार जेणे लह्युं,
तेहने पण परम सार एह ज कह्युं;
ओघनिर्युक्तिमां एह विण नवि मिटे,
दुःख सवि वचन ए प्रथम अंगे घटे ।।

अर्थात् आचार्य के समग्र गुण रूप रत्नों का संदूक जो द्वादशांगगणिपिटक है, उसका सार अर्थात् प्रधानता जिसने जानी है, ऐसे समस्त द्वादशांगी के जानकार के लिए भी परमसार या प्रधान रहस्य तो यही शुद्ध नय परिणमनरूप कहा है । अन्य की तो बात ही क्या है ?

श्री **'ओघनिर्युक्ति'** में कहा है कि

परमरहस्समिसीणं, समत्तगणिपिडग झरियसाराणं ।
परिणामिय पमाणं, निच्छयमवलंबमाणाणं ।।

अर्थात्, समस्त गणिपिटक के सार को जाननेवाले तथा परमार्थ का अवलंबन करनेवाले ऋषियों का परम रहस्य यही है कि मोक्षमार्ग में **'परिणाम'** ही प्रमाण है ।

इसीलिए निश्चय के अवलंबन के बिना दुःख टल ही नहीं सकता है । प्रथम अंग **'श्री आचारांग'** सूत्र में भी कहा गया है कि

जे एगं जाणह से सव्वं जाणइ ।
जे सव्वं जाणइ से एगं जाणइ ।।

अर्थात, जो एक को जानता है, वह सबको जानता है और जो सब को जानता है, वह एक को जानता है । (यहाँ आत्मज्ञता मुख्य है,

सर्वज्ञता उपचरित (लक्षणा से) है यह नयविभाग जानना चाहिए । इसलिए एक आत्मज्ञान ही उपादेय है ।

फिर **'ज्ञानसार' ग्रंथ** के दूसरे **'मग्नाष्टक'** में कहा गया है कि–

'स्वभावसुखमग्नस्य, जगत्तत्त्वावलोकिनः ।
कर्तृत्वं नाऽन्यभावानां, साक्षित्वमवशिष्यते ।।'

अर्थात्, स्वभाव के सुख में मग्न हुए और स्याद्वाद न्याय से परीक्षा कर जगत् के तत्त्वों का अर्थात् शुद्ध स्वरूप का अवलोकन करनेवाली आत्मा को अन्य भावों का यानी आत्मा से भिन्न अन्य पदार्थों का कर्तृत्व नहीं, बल्कि ज्ञान ही बाकी रहता है ।

तात्पर्य यह कि स्वभावसुख में मग्न आत्मा जगत् के सभी पदार्थों को देखती है और जानती है, लेकिन वह आत्मा एक भी अन्य पदार्थ की अवस्था का स्वयं कर्ता नहीं बनती है । सिर्फ अन्य पदार्थ जिस रूप में परिणत होते हैं, वैसे ही वे पदार्थ और उनके गुणपर्याय के ज्ञाता रहते हैं ।

इसी बात को अधिक स्पष्ट करने के लिए स्वोपज्ञ स्तबक में पूज्य श्री यशोविजय जी बताते हैं कि–

'मिट्टी आदि चीजें घट आदि रूप में परिणत होती हैं, उसमें कुम्हार आदि साक्षी मात्र है, तो वह कैसे अभिमान कर सकता है कि मैं इस घट आदि पदार्थ का कर्ता हूँ ।'

तत्त्व यह है कि मिट्टी स्वयं अपनी योग्यता से ही घट रूप में परिणत होती है, उस समय दंड, चक्र आदि अपनी–अपनी योग्यता से अपने–अपने व्यापार रूप में परिणत होते हैं । कुम्हार के शरीर के परमाणु भी अपनी–अपनी योग्यता से उन–उन अवस्थाओं को धारण करते हैं । फिर भी कुम्हार अज्ञानी हो, तो यह सारी वस्तु स्थिति देखकर यह मानता है कि **'मैं घड़ा बनाता हूँ । '** वास्तविक बात तो यह थी कि कुम्हार की आत्मा ने घड़ा बनाने की इच्छा की थी । लेकिन शरीर व्यापार (क्रिया) कुछ कुम्हार की इच्छा के अधीन नहीं था । मूर्त शरीर

और अमूर्त आत्मा इन दोनों के बीच परमार्थ से कोई संबंध नहीं हो सकता है । ऐसा हो सकता हे कि आत्मा इच्छा करे और उसी समय शरीर की क्रिया उस स्वरूप में अपनी योग्यता से परिणत हो । ऐसा अनेक बार देखने से अज्ञानी आत्माओं को भ्रांति हो जाती है कि शरीर की क्रिया हम कर रहे हैं । लेकिन जब एक द्रव्य का दूसरे द्रव्य में प्रवेश ही नहीं है, तो फिर आत्मा और शरीर भिन्न–भिन्न द्रव्य होने से आत्मा शरीर को कैसे परिणत कर सकती है ? आत्मा तो शरीर की क्रियाओं की सिर्फ साक्षी या ज्ञाता बन सकती है । यह निश्चयनय का मत है, जो परमार्थ को सूचित करता है । इसे सूक्ष्म बुद्धि से समझना चाहिए ।

इसी बात को वे एक दूसरे दृष्टांत से इस प्रकार स्पष्ट करते हैं–

'उसी प्रकार से भाषा वर्गणा द्रव्य वर्ण के रूप में, वर्ण वाक्यों के रूप में, वाक्य महावाक्यों के रूप में और महावाक्य ग्रंथ के रूप में परिणत होते हैं । उसमें ग्रंथकार सिर्फ साक्षी होता है, तो वह कैसे अभिमान रख सकता है कि 'मैं ग्रंथकर्ता हूँ ।'

सभी द्रव्य अपने परिणाम के कर्ता होते हैं, पर–परिणाम का कोई कर्ता नहीं होता है । इस दृष्टि से अन्य भावों का कर्तृत्व नहीं होता, सिर्फ साक्षीपना होता है ।'

अध्यात्मसार के 'आत्मनिश्चयाधिकार' में भी कहा गया है कि

पराश्रितानां भावानां, कर्तृत्वाद्यभिमानतः ।
कर्मणा बध्यतेऽज्ञानी, ज्ञानवांस्तु न लिप्यते ।।

अर्थात्, परपुद्गलाश्रित पर्यायों के कर्तापने के अभिमान से अज्ञानी कर्म से बँधता है, पर ज्ञानी नहीं बँधता है ।

तात्पर्य यह है कि वास्तविक रीति से आत्मा परभाव की कर्ता नहीं होती है, लेकिन कर्ता पने के अभिमान से अज्ञानी आत्मा कर्म से बँधती है । ज्ञानी को कर्ता होने का अभिमान न होने से वह कर्म से नहीं बँधता है ।

ऋजुसूत्रनय के मत से आत्मा शुभाशुभ कर्म की कर्ता नहीं है, बल्कि वह इष्ट–अनिष्ट वस्तु के कारण होने वाले राग–द्वेष रूप आशय की कर्ता है ।

नैगम और व्यवहारनय कर्म आदि का कर्तापना होना बताते हैं, क्योंकि कर्ता का व्यापार फल के अंत तक होता है। आत्मा भावकर्म की कर्ता है और उसका फल द्रव्य कर्म का बंध है। फल पर्यंत कर्ता का व्यापार होने से आत्मा को द्रव्यकर्म का कर्ता मानने की बात व्यवहारनय कहता है।

इसी बात को पूज्य उपाध्याय जी महाराज ने सीमंधर स्वामी की प्रार्थनारूप 125 गाथाओं के स्तवन में इस प्रकार स्पष्ट किया गया है–

'हुं कर्ता परभावनो, एम जेम जेम जाणे।
तेम तेम अज्ञानी पड़े, निजकर्म ने घाणे–
आतम तत्त्व विचारिए ।। 1।। (तीसरी ढाल–गाथा क्र. 13,14,15)

अर्थात्, मैं परपुद्गल द्रव्य की अवस्था का कर्ता हूँ, ऐसा जो कर्ता होने का अभिमान रखता है, वह अज्ञानी है और कर्म से बँधता है।

वह अज्ञान नयविभाग से ही टलता है, इसलिए उसी को बताते हैं।

'पुद्गल कर्मादिक तणो, करता व्यवहारे;
करता चेतन कर्मनो, निश्चय सुविचारे, आतम०....।।1।।

अर्थात्, व्यवहारनय की दृष्टि से ज्ञानावरणीय पुद्गल कर्मादि का कर्ता चेतन है। (वहाँ **'अनुपचरित असद्भूत'** व्यवहार से कर्म का कर्ता और उपचरित असद्भूत व्यवहार से गृहादि का कर्ता यह विशेष। इसके **'स्वजाति उपचरित असद्भूत व्यवहार'** से पुत्रादि का कर्ता, **विजाति उपचरित असद्भूत** व्यवहार से धनादि का कर्ता तथा **'स्वजाति विजाति उपचरित असद्भूत'** व्यापार से नगर प्राकारादि का कर्ता आदि भेद जानने चाहिए।)

1) निश्चयनय के अनुसार चेतन कर्म राग–द्वेष आदि जो कर्म, उसका कर्ता है। अशुद्ध निश्चयनय अशुद्ध स्वभाव का कर्ता मानता है। उसके अनुसार द्रव्य, कर्म आदि साहचर्य से आते हैं। जैसे तैल अभ्यंग से यानी तैल चुपड़ने से कर्ता पुरुष को रज, उसके साहचर्य से यानी तेल के संबंध से आती है।

ताप्तर्य यह है कि आत्मा राग–द्वेषादि भावकर्मो की कर्ता है । उसी समय कार्मणवर्गणा के पुद्गलपरमाणु स्वयं अपने स्वभाव से कर्मरूप में परिणत होते हैं । यहाँ आत्मा और कर्म का स्वतंत्र परिणमन अपने–अपने स्वभाव से होता है । फिर भी दोनों का एकसाथ परिणमन होता है, इसलिए व्यावहारिक रीति से यह कहा जाता है कि आत्मा ने कर्म को बाँधा, लेकिन वस्तुस्थिति ऐसी नहीं है, क्योंकि अमूर्त आत्मा मूर्त कर्म को कैसे बाँधेगी ?

'कर्ता शुद्ध स्वभावनो, नय शुद्ध कहीये,
कर्ता पर परिणामनो, बेउ किरिया ग्रहीये आतम 0।।3।।'

अर्थात्, शुद्ध निश्चय नय के अनुसार आत्मा शुद्ध स्वभाव की ही कर्ता है । आत्मा को परपरिणाम का कर्ता मानने में दो क्रियाएँ आ जाती है । एक आत्मा के लिए एक जीवक्रिया और दूसरी अजीवक्रिया मानने से अपसिद्धांत होता है, सिद्धांत विरोध आता है । इसलिए आत्मा को शुद्ध स्वभाव का ही कर्ता मानना चाहिए ।

शुद्ध निश्चयनय परमार्थ को बताता है कि उस नय के अनुसार आत्मा शुद्ध स्वभाव की ही कर्ता है । यदि पुद्गल परिणाम का कर्ता आत्मा मानी जाए, तो एक ही द्रव्य में स्वपरिणमन और अन्य का परिणमन ये दो क्रियाएँ मानने की आपत्ति आती है । यह बात अनंत ज्ञानियों को स्वीकार्य नहीं है ।

हमारा प्रस्तुत विषय यह है कि अरिहंत की आत्मा को पहचानने से हमारी अपनी आत्मा का ही परिचय होता है । आत्मा के परिचय से ही सम्यग्दर्शन आदि गुणस्थानकों की प्राप्ति होती है । प्रस्तुत ढाल की पहली गाथा में कहा है कि

जिहां लगे आतम द्रव्य नु, लक्षण नवि जाण्युं,
तिहां लगे गुणठाणुं भलुं, केम आवे ताण्युं, आतम0।।1।।

अर्थ :– जब तक आत्मद्रव्य का लक्षण या स्वरूप नहीं जाना, तब तक आगे गुणस्थानकों की परिणति खींचतान कर भी कैसे आ सकती है ?

इसलिए आत्मतत्त्व को जानना चाहिए, उसके बारे में सोचना चाहिए और सोचकर पहचानना चाहिए । मोह का त्याग कर आत्मा जब आत्मा को आत्मा द्वारा और आत्मा में जानती है, तब वह आत्मा ही स्वंय दर्शन, ज्ञान और चारित्र स्वरूप बनती है ।

जब तक आत्मा अज्ञान से पुद्गल में आत्मतत्त्व का भ्रम धारण करती है, तब तक उसका संसारभ्रमण का दुःख टलता नहीं है ।

कहा है कि

'मिच्छत्तेणं उदिण्णेणं अट्ठ–कम्म–पयडीओ बंधंति ।'

अर्थ :– जब तक जीव को **पुद्गल में आत्मत्त्व की भ्रांति** रुप मिथ्यात्व का परिणाम उदय में है, तब तक उसे आठ प्रकार के कर्मों की प्रकृतियाँ बँधती ही रहती है ।

आत्मज्ञान रहित तप-जप करने से भवभ्रमण का दुःख नहीं टलता है । जैसे ठंडी की वेदना अग्नि के ताप से दूर होती है, वैसे ही भवभ्रमण और उसके कारण रूप होनेवाले आठ कर्मों की प्रकृतियों का बंध आत्मज्ञान से ही टलता है । देह आदि में आत्मत्व की बुद्धि अज्ञान है, मोह है, मिथ्यात्व है । आत्मा में आत्मत्व की बुद्धि ही ज्ञान है, विवेक है और यथार्थ श्रद्धा गुणरूप समग्दर्शन है ।

अरिहंत के परिचय से आत्मद्रव्य से परिचय होता है और आत्मद्रव्य के परिचय से मोह का नाश होता है । इसलिए जिसे मोह का नाश करना है, उसे द्रव्य गुण पर्याय से अरिहंत का परिचय पाना यह भी एक उपाय है ।

शास्त्रों में अरिहंत का परिचय करानेवाले चौंतीस अतिशय, आठ प्रातिहार्य, समवसरण की ऋद्धि, देवेंद्रों का आगमन, वाणी के पैंतीस गुण आदि का वर्णन मिलता है, लेकिन वे सभी पुद्गलाश्रित हैं । जिन जीवों का आत्मद्रव्य से परिचय नहीं है, बल्कि जिनके मन में पुद्गलों की ही महिमा बैठी हुई है, उन जीवों की भी दृष्टि अरिहंत की ओर आकर्षित हो इसलिए व्यवहार से अरिहंत की पुद्गलाश्रित महिमा बताई की गई है । लेकिन इसमें निश्चय से अरिहंत की महिमा नहीं आती है ।

निश्चय नय से अरिहंत की महिमा समझनी हो, तो उसके लिए अरिहंतों की वीतरागता, उनका केवलज्ञान स्वभाव, उनका अनंत वीर्य, अनंत सुख आदि गुणों को समझना आवश्यक है। उन गुणों के चिंतन से ही आत्मा के पूर्ण स्वभाव की दृष्टि जागृत होती है और स्वभाव की दृष्टि आने पर या उसका परिचय होने पर राग–द्वेष टलने लगते हैं और क्रमशः विशुद्धि होने पर पूर्णता की प्राप्त होती है।

अरिहंत के ध्यान से आत्मा अरिहंतस्वरूप हो जाती है, वैसे ही सिद्ध भगवंतों के ध्यान से आत्मा सिद्धस्वरूपी होती है। आचार्य, उपाध्याय और साधुपद के ध्यान से उन स्वरूपों की प्राप्ति होती है। इससे यह सिद्ध हुआ कि जैसे नमस्कार के ध्यान से एक ओर उत्तमोत्तम आत्माओं का आदर होता है तो दूसरी ओर स्वात्मा की ही विशुद्ध अवस्थाओं का आदर होता है और यही मोक्ष का परमार्थ मार्ग होने से नमस्कार मंत्र को श्री जैन शासन का सार माना गया है।

निश्चय रत्नत्रय

आत्मा की विशुद्ध अवस्थाओं का आदर, परिचय और आचरण यही निश्चय रत्नत्रय है। अरिहंतादि परमेष्ठियों के शुद्ध स्वरूप का ध्यान यह निश्चय से आत्मा का की ध्यान होने से **'नमस्कार महामंत्र'** का अवलंबन जीव को निश्चय रत्नत्रय के मार्ग पर चढ़ाने वाला है। जिस प्रकार शुद्ध आत्मद्रव्य का ध्यान मोह का नाश करता है, उसी प्रकाश नमस्कार महामंत्र का ध्यान भी मोह को नष्ट करनेवाला होता है।

शुद्ध आत्मद्रव्य का ध्यान कैसे करना चाहिए ? इस संबंध में उपाध्याय जी महाराजने श्री **'ज्ञानसार'** ग्रंथ के **'मोहाष्टक'** में बताया हैं–

शुद्धात्मद्रव्यमेवाऽहं, शुद्धज्ञानं गुणो मम ।
नान्योऽहं न ममाऽन्ये, चेत्यदो मोहास्त्रमुल्बणम् ।।

अर्थात्, मैं शुद्ध आत्मद्रव्य हूँ, विभाव से मैं अशुद्ध नहीं हूँ तथा मैं अन्य धर्मास्तिकादि पाँच द्रव्यों के स्वरूप भी नहीं हूँ। शुद्ध

ज्ञान–केवलज्ञान, यही मेरा गुण है, मै उससे अलग नहीं हूँ। पुद्गल के रूप, रस आदि गुण मेरे नहीं हैं। इस प्रकार का ध्यान मोह का दहन करनेवाला अत्यंत तीक्ष्ण शस्त्र है।

इसी बात को दूसरे प्रकार से वर्णन करते हुए **'ज्ञानाष्टक'** में कहा गया है कि–

स्वद्रव्यगुणपर्यायचर्या वर्या पराऽन्यथा।
इति दत्तात्मसंतुष्टिर्मुष्टिज्ञानस्थितिर्मुनेः ॥

अर्थात्, अपने शुद्ध आत्मद्रव्य में, अपने ज्ञान, दर्शन तथा चारित्रादि गुण और अपने शुद्ध अर्थ और व्यंजनादि पर्यायों में चर्या अथवा परिणति ही श्रेष्ठ है। परद्रव्य, उसके गुण और पर्यायों में परिणमन स्वरूप चर्या श्रेष्ठ नहीं है। इस प्रकार संक्षेप में रहस्यज्ञान की स्थिति अर्थात् मर्यादा मुनि को होती है। मुनि के लिए ज्ञान, दर्शन, चारित्र ही आत्मा है। आत्मा के केवलज्ञान आदि त्रिकालस्पर्शी पर्याय को, शुद्ध व्यंजन पर्याय और तत्कालस्पर्शी केवल ज्ञानोपयोग आदि पर्यायों को शुद्ध अर्थपर्याय कहा जाता है।

इस प्रकार द्रव्यगुणपर्याय से शुद्ध आत्मा का ध्यान यही अरिहंत आदि परमेष्ठियों का ध्यान है और अरिहंतादि परमेष्ठियों का ध्यान ही शुद्ध आत्मा का ध्यान है। निश्चयपूर्वक इन दोनों के बीच कोई अंतर नहीं है, यही समझकर जो कोई नवकार के ध्यान में लीन होता है, वह अपनी शुद्ध आत्मा को पाकर मोक्षस्वरूप बनता है।

तप्पणइणं तम्हा, अणुसारियव्वो सुहेगचित्तेण।
एसो व नमुक्कारो, कयन्नुयं मन्नमाणेणं ॥

इसलिए इस नमस्कार को सूत्र से प्रणयन करनेवाले गणधरभगवंत और अर्थ से प्रकाशित करने वाले तीर्थंकर भगवंत इनके प्रति कृतज्ञता अथवा कृतार्थता की भावना रखकर शुभ चित्त से उनका स्मरण करना चाहिए। उनका ध्यान करना चाहिए।

14

आचार्य श्रीसिद्धसेनसूरि विरचित

श्री नमस्कार माहात्म्य (भावानुवाद)
पहला प्रकाश

जगत् में कल्पतरु के समान श्री ऋषभस्वामी को नमस्कार हो। तप और ज्ञानरूपी धन के स्वामी और इंद्रो से भी पूजित श्री शांतिनाथस्वामी को नमस्कार हो। श्री मुनिसुव्रतस्वामी, श्री अनंतनाथ, श्री अरिष्टनेमि, श्री पार्श्वनाथस्वामी, श्री वीर भगवान् तथा सभी अरिहंतों को नमस्कार हो।

अच्छुप्ता, अंबिका ब्राह्मी, पद्मावती, अंगिठादि मातातुल्य देवियाँ मुझे पुरुषार्थ की शक्ति दें।

पुण्य को उत्पन्न करनेवाले, पालन और पौषण करने वाले और जीव को विश्राम देनेवाले श्री पंचपरमेष्ठी–नमस्कार की सदा जय हो। यह कटु संसार भी मुझे मान्य है, क्योंकि इस संसार में जन्म पाकर मुझे श्री जिनाज्ञा का आश्रय मिला है।

श्री जिनशासन रूपी मनुष्य क्षेत्र में पाँच मेरु के समान श्री अरिहंत, सिद्ध, आचाय, उपाध्याय और सभी साधुओं को नमस्कार हो। जो भव्य जीव इन पाँच पदों का भाव के साथ स्मरण करते हैं, उनका भवभ्रमण कैसे होगा?

तीर्थंकर की वाणी के अतिशय समान पाँच पदों के पैंतीस अक्षर तुम्हारा कल्याण करें। श्री सिद्धसेनदिवाकर की वाणी पंचपरमेष्ठियों की स्तुति द्वारा अपनी आत्मा की शुद्धि करती है।

जो अरिहंत की शरण स्वीकार करते हैं, राजा–महाराजा उनके वश होते हैं, देवता नमस्कार करते हैं और उन्हें नागकुमार आदि भवनपति देवों का भय नहीं होता है।

जो अरिहंत की पूजा करते हैं, उन पर मोह का जोर नहीं चलता है। वे निरंतर आनंद प्राप्त करते हैं और अल्प समय में मोक्ष भी पा लेंगे। जिन अरिहंतों की केवलज्ञानी भी प्रदक्षिणा देकर पूजा करते हैं, उनका माहात्म्य कौन जान सकता है?

राग–द्वेषादि शत्रु, जिन्होंने ब्रह्मा, विष्णु, महेशादि देवताओं की भी खूब विडंबना की है, उन्हें एक जिनेश्वर ने ही नष्ट किया है।

जीव और कर्म नीर–क्षीर की तरह एकदूसरे में मिले हुए होते हैं। उनको राजहंस की तरह अलग–अलग कर बतानेवाले भगवान जिनेश्वर ही हैं। जीव और कर्म का संयोग महात्मा पुरुष भी बहुत मुश्किल से देख सकते हैं, उस कर्मपाश से बचानेवाले जिनेश्वर का हम ध्यान करते हैं। उनकी उपासना करते हैं।

प्रथम पद के सात अक्षर **'नमो अरिहंताणं'** जिनमूर्ति, जिनागम आदि सात क्षेत्रों की तरह सफल हैं। वे भरत, ऐरावत आदि सात क्षेत्रों की तरह शाश्वत हैं, वे सात अक्षर मेरे सात भयों को दूर करें।

दूसरा प्रकाश

जहाँ सिद्ध भगवंत प्रतिष्ठित हैं, वहाँ जन्म नहीं, मृत्यु नहीं, भय नहीं, पराजय नहीं, थोड़ा–सा भी क्लेश नहीं है। कहाँ केले के खंभे के समान यह असार संसार और कहाँ आगम और युक्तियों द्वारा जिसका वैभव निश्चित हुआ है वह सिद्धशिला !

उज्जवल धर्म, शुक्ल ध्यान, शुक्ल लेश्या और निर्मल कीर्ति वाले श्री सिद्ध भगवंत हमें सिद्धि प्रदान करें !

ज्ञान और क्रिया का योग होने से सिद्ध पद प्राप्त होता है। जैसे पंछी के दो पंख उसे इच्छित स्थल पर पहुँचाते हैं, वैसे तप और शम रूपी पंख प्राणी को इष्टस्थान तक पहुँचाते हैं।

निश्चय और व्यवहार दोनों सूरज और चंद्रमा की तरह उसे निरंतर प्रकाश देते हैं। मन:शुद्धि अभ्यंतर तत्त्व है तो संयम बाह्य तत्त्व

है । दोनों के संयोग से मोक्ष की प्राप्ति होती है । जैसे एक पंख से पंखी उड़ नहीं सकता और एक चक्र से रथ चल नहीं सकता, वैसे एकान्त मार्ग से निर्वाण पाया नहीं जा सकता है । जैसे दस की संख्या में नौ तक की संख्या समा जाती है, वैसे **'अनेकान्त'** के समुद्र में एकान्त रूपी नदियाँ समा जाती हैं । जैसे दरिद्र के घर में चक्रवर्ती की समृद्धि नहीं समा सकती है, वैसे तुच्छ एकान्त में अनेकांत की संपदाएँ नहीं समा सकती हैं । सत्त्व–असत्त्व, नित्य–अनित्य, धर्म–अधर्म आदि दो–दो गुण मिलकर वस्तु की सिद्धि दिखाते हैं, इसलिए बुद्धि के आठ गुणों का सहारा लेकर और एकान्त का आग्रह छोड़कर वस्तुतत्त्व के लिए प्रयत्न करना चाहिए ।

तीन रेखाएँ और ऊपर अनुस्वार वाला **'ण'** कार यह दिखाता है कि ज्ञान, दर्शन और चारित्र रूप तीनरत्नोंवाली आत्मा मोक्ष पा लेती है ।

औदारिकादि पंच शरीर का नाश करनेवाले और पाँचवीं सिद्धि गति को देनेवाले ये पाँच अक्षर **'नमो सिद्धाणं'** जन्म–जरा–मरण आदि स्वभाव वाले संसार से तुम्हारी रक्षा करें ।

तीसरा प्रकाश

जिन्होंने आचार्यों की शरण स्वीकार कर ली है, उन्हें अज्ञानरूपी अधंकार बाधा नहीं पहुँचा सकता है । उन पर न कर्ममैल का लेप होता है न ही उन्हें मन, वचन और काया के कष्ट होते हैं ।

मोह की परेशानी से जकड़े हुए प्राणियों को भी आचार्य केशी गणधर की तरह दुःख से मुक्त करते हैं, यह बहुत बड़े आश्चर्य की बात है । आचार्य उन्हीं को कहते हैं, जिनके आचार मनोहर होते हैं और जिनका ज्ञान शिव से संगम करानेवाला होता है ।

वे यतींद्र मेरे शरण हों,जो यथाशक्ति पदार्थों के उपदेशक होते हैं, अहिंसा आदि कर्मों का पालन करते हैं और अपनी आत्मा की पूजा करते हैं । संयमी मुनियों के स्वामी होनेवाले आचार्य, शत्रु, मित्र, सुख–दुःख, इष्ट–अनिष्ट, मोक्ष–भव आदि सभी पदार्थों के प्रति समानवृत्ति

रखते हैं । जैसे भ्रमर कमल के फूल पर जा पहुँचता है, वैसे अमूल्य सिद्धियाँ और उज्ज्वल लब्धियाँ स्वयं आचार्यों के पास जा पहुँचती हैं । इस तीसरे पद के सात अक्षर **'नमो आयरियाणं'** सात नरक पृथ्वीरूप दुर्गति का नाश करें ।

चौथा प्रकाश

उपाध्याय का आश्रय लेनेवाला मनुष्य कभी तत्त्व से चलित नहीं होता है । वाद में उसे कोई जीत नहीं सकता है । उपाध्याय मूर्तिमान् उदय है , सम्यग्दृष्टि जीवों के लिए उत्सव समान है और उत्तम पुरुषों को उत्साह देनेवाले हैं । वचन और उम्र से वृद्ध, हिंसादि पापों से रहित और आगमशास्त्र के पारगामी उपाध्यायों की तुम पूजा करो ।

सचमुच, उपाध्याय के बिना सप्तनयों में चतुराई, परशास्त्रों में कुशलता और द्वादशांगी सूत्र की प्राप्ति कहाँ से होगी?

सात रज्जुप्रमाण ऊर्ध्व लोक का मार्ग प्रकाशित करने में दीपक के समान चौथे पद के सात अक्षर **'नमो उवज्झायाणं'** मेरे सात व्यसनों को नष्ट करें ।

पाँचवाँ प्रकाश

साधु की सेवा करनेवाले मनुष्य को व्याधि पीड़ा नहीं देती है, दरिद्रता सताती नहीं है, उसे स्नेहीजनों का वियोग और उद्वेग सहना नहीं पड़ता है । सर्वसंग त्यागी और राग आदि अंतरंग शत्रुओं के विजेता मुनि बहुत आनंद पाते हैं, मोक्षलक्ष्मी उन पर कटाक्ष फेंकती है ।

लोभ का नाश करनेवाले, लोकोत्तर चारित्रवाले तथा तीसरे लोकोत्तम पद को धारण करनेवाले मुनि हमारे पापों का नाश करनेवाले, लोकोत्तर चारित्रवाले तथा तीसरे लोकोत्तम पद को धारण करनेवाले मुनि हमारे पापों का नाश करें ।

साधु भगवान् मूलोत्तर गुणों के समूह में अपनी इच्छा के अनुसार तल्लीन होते हैं । श्रुत के पारगामी साधुओं के लिए अकेलापन दक्षिणावर्त

शंख में सिद्ध नदी के जल समान होता है । साधु अकेले एकाकी होने से (गच्छ में रहते हुए भी सिर्क अंतरात्मा में ही तल्लीन होने से साधु को यहाँ (एकाकी कहा है ।) अथवा जिनकल्पी मुनियों की दृष्टि से साधुओं के अकेलेपन का वर्णन किया गया है ।)

क्रोध से विह्वल नहीं होते, मान नहीं करते और दंभ भी नहीं करते है । अकेले रहनेवाले को लोभ भी लूट नही सकता है । एकाकीपने को पाए हुए नमिराजर्षि आदि प्रत्येकबुद्ध होकर शिवसंपदा पा गए । तत्त्वों के ज्ञाता और संविग्न चित्तवाले सत्पुरुषों को एकाकीपना ही समता की नाली है । इंद्रियों को वश में रखनेवाले दो मनुष्यों में भी अकेलापन नहीं है, जब कि इंद्रियों के वश होनेवाला एक हो तो भी वह अन्य हजारों जैसा ही है । दो नेत्रों की तरह दो मनुष्य साथ हों, तभी वे दर्शन के लिए समर्थ होते हैं, जबकि अकेला तो विडंबना का स्थान बन जाता है । अकेला व्यक्ति न अपना स्वार्थ साध सकता है और न लोक में या लोकोत्तर में कोई उसका विश्वास कर सकता है ।

भावना और ध्यान में जिसकी अंतरात्मा लीन होती है, वह लाखों के मध्य भी रहता हो, तो भी उसका अकेलापन नष्ट नहीं होता है । निर्जीवों में जैसे चैतन्य नहीं होता, कायरों में जैसे साहस नहीं होता, वैसे मुनि अनेक हों, तो भी उनमें थोड़ा भी कलह नहीं होता है ।

जिस मुर्ख जीव को पाँच–छह साधुओं की संगति में रहने में भी ग्लानि होती है, उसे अनंत सिद्धों के साथ रहने की अभिलाषा कैसे हो सकती है?

रत्नत्रयी की साधना में रागादि दोषों का इतना अधिक उपद्रव होता है कि एकाकी रहने में क्षेमकुशल नहीं है । एकाकी मनुष्य को सुकृत करने के लिए उल्लास नहीं होता, उसके किसी प्रयोजन की सिद्धि नहीं होती है, फिर उसे मोक्ष की प्राप्ति कहाँ से होगी ? कफवाले को चीनी और ज्वरग्रस्त के लिए स्निग्ध भोजन उचित नहीं माना जाता, वैसे साधु के लिए अकेलापन उचित नहीं माना जाता है । अकेला मनुष्य चोर जैसा

लगता है, दो मनुष्य हों तो धूर्त, चालाक लगते हैं, तीन हों तो विश्वास का स्थान बनते हैं और अनेक का समूह हो तो राजा की तरह सुशोभित लगते हैं। जिन, प्रत्येकबुद्ध आदि के उदाहरण देकर साधु को एकाकी नहीं होना चाहिए, क्योंकि चर्मचक्षुवालों का ज्ञानचक्षुवालों के साथ प्रतिस्पर्धा करना उचित नहीं है।

अथवा चार गतियों वाले संसार में परिभ्रमण करनेवाले प्राणियों को पाप–पुण्य का साथ होने से उनमें अकेलापन हो ही नहीं सकता है। आहारादि संज्ञाएँ, दृष्ट लेश्याएँ, विकथाएँ जिसके अंत:करण को निरंतर चंचल बनाती हैं, उसमें एकाकीपन हो ही कैसे सकता है? डाकिन जैसी अविरति से जिसे सदा प्रेम होता है, उसको एकाकीपन कैसे हो सकता है? जिसकी पांच इन्द्रियाँ आग की तरह निरंतर देह को जलाती हैं, वह अकेला कैसे हो सकता है? दूध दूध के साथ, पानी पानी से, दीपक दीपक के साथ और अमृत अमृत से जैसे मिल जाता है, वैसे मुनि मुनि से मिलकर एकता को पाते हैं।

जिसे कषाय एक क्षण ते लिए भी नहीं छोड़ते हैं, मन–वचन–काया के व्यापार जहाँ भ्रष्ट करने के लिए तैयार रहते हैं, वहाँ अकेलापन सुख कैसे देगा? जिसको प्रमाद, मिथ्यात्व, राग आदि दोष खराब पड़ोसी की तरह छल से देखते हैं उसे अकेलापन सुख कैसे दे सकता है? ऐसे दोषों से मुक्त होनेवाला पुरुष समूह में रहे तो भी नगर में रहनेवाले किसी विदेशी मनुष्य के समान एकाकी होता है। ऐसे दोषों से युक्त होने वाला योगी भी व्यर्थ अकेलापन अंगीकार करता है, क्योंकि इस रीति से तो बंठ, शठ, चार, जार आदि पुरुष भी अकेले ही घूमते रहते हैं। पाप–पुण्य के क्षय से परमात्मा का भाव पाई हुई आत्माओं में ही अकेलापन होता है।

अथवा तो जिनवचन में सर्वथा विधिनिषेध नहीं है। इसलिए श्रेष्ठ मुनि लाभ–हानि का विचार करके ही रहते हैं। साधु होम नहीं करते, दान नहीं देते, तप नहीं करते, जप नहीं करते और क्रिया भी नहीं करते, फिर भी आश्चर्य की बात यह है कि वे परमपद की साधना करते हैं।

मनोहर गीत, मनोरह रस, मनोहर गंध, दिव्य मुलायम गद्दियाँ और देवांगनाओं का सुंदर रूप देखकर जो मुनि आकर्षित नहीं होते हैं, वे निरंजन होते हैं। पंचमपद के नौ अक्षर **'नमो लोए सव्वसाहूणं'** मुझे धर्म के बारे में नए–नए भाव दें।

छठा प्रकाश

पंचपरमेष्ठि–नमस्कार सभी पापों का नाश करनेवाला और सभी मंगलों में प्रथम मंगल है। जो कोई पाँच समितियों में प्रयत्नशील बनकर और तीन गुप्तियों से पवित्र होकर इस पंचनमस्कार का त्रिकाल स्मरण करता है, उसके लिए शत्रु मित्ररूप बन जाते हैं, विष अमृत बन जाता है, शरण से रहित अरण्य रहनेयोग्य सुंदर महल बन जाता है, दुष्ट ग्रह अनुकूल हो जाते हैं, चोर आदि यश फैलानेवाले बनते हैं, खराब कारण और अपशकुन भी शुभ फल देनेवाले बनते हैं, मंत्र–तंत्र आदि उसे पराजित नहीं कर सकते है, डाकिनियाँ भी उसका द्रोह नहीं कर सकती हैं, सांप कमलनाल के समान बन जाते हैं, अग्नि गुंजों के समूह जैसे बन जाती है, उसके सामने सिंह सियार जैसा हो जाता है, हाथी हिरण जैसे बन जाते हैं, राक्षस रक्षा करनेवाले बन जाते हैं, भूत–विभूति/वैभव करनेवाले बनते हैं, प्रेत प्रेम करने लगते हैं, व्यंतर देवता उसके दास बनते हैं, युद्ध उसे धन देनेवाला होता है, रोग उसको आनंदोपभोग देने वाले हो जाते है, विपत्ति संपत्ति के लिए होती है और सभी प्रकार के दुःख सुख देनेवाले बन जाते हैं।

जैसे गरुड़ पंछी का स्वर सुनकर चंदनवृक्ष साँपों के बंधन से मुक्त हो जाता है। वैसे पंचनमस्कार की गंभीर ध्वनि सुनकर मनुष्य भी सभी बंधनों से मुक्त हो जाता है। नमस्कार में एकचित्त व्यक्ति के लिए जल, स्थल, श्मशान, पर्वत, दुर्ग आदि उपद्रव के स्थान भी उत्सवरूप बन जाते हैं।

पुण्यानुबंधी पुण्य को धारण करनेवाला जो जीव विधिपूर्वक पंच

परमेष्ठि–नमस्कार का ध्यान करता है, वह जीव तिर्यंच या नरकगति में नहीं जाता है ।

नमस्कार के प्रभाव से चक्रवर्ती आदि की संपत्ति समुद्र के किनारे पर होनेवाले मोतियों के समान सुलभ हो जाती है ।

विधिपूर्वक ध्यान करने पर यह मंत्र वशीकरण, क्षोभ, स्तंभ आदि में भी सिद्धि देनेवाला बन जाता है । विधिपूर्वक स्मरण करने पर यह मंत्र परविद्या का उच्छेद करता है और क्षुद्र देवताओं के उपद्रव का ध्वंस कर देता है ।

स्वर्ग, मृत्यु और पाताल इन तीनों लोकों में द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की दृष्टि से यदि कोई आश्चर्यजनक घटना (अतिशय) किसी को दिखाई दे, तो जानना चाहिए कि यह नमस्कार की आराधना का ही प्रभाव है । तिर्च्छालोक में चंद्र आदि, अधोलोक में चमरेंद्र आदि, सौधर्मादि में शक्रेन्द्र आदि और उनके आगे के अहमिंद्र आदि की जो कोई संपत्ति दिखाई देती है, वह नमस्काररूपी वृक्ष के ही अंकुर, पत्ते, कलियाँ या फूल हैं, ऐसा समझना चाहिए । नमस्काररूपी महारथ पर चढ़कर ही अब तक सभी आत्माओं ने परमपद पाया है और आगे भी पाएगी । जब यह मंत्र दुलर्भ शिवपद (मोक्ष) भी दे सकता है तो उसके सामने आनुषंगिक अन्य फलों की गिनती ही क्या है ! अर्थात् आनुषंगिक फल तो मिलेंगे ही ।

जो मन, वचन और काया की शुद्धि से एक लाख बार नवकार मंत्र का जप करता है, वह जैनसंघ के लिए पूज्य बनकर तीर्थंकर नाम कर्म बाँध लेता है ।

हे मित्र ! यदि तेरा मन नमस्कार में लीन नहीं होता है, तो चिरकाल तक आचरण किए हुए तप, श्रुत और चारित्र का क्या काम है ?

जो असंख्य दुःखों का क्षय करता है, इहलोक और परलोक में सुख देने में कामधेनु के समान है और दुषमकाल में जो कल्प–वृक्ष के समान है, उस मंत्राधिराज का जप क्यों न किया जाए ?

दीपक, सूरज या अन्य किसी भी तेज से जिस अंधकार का नाश नहीं होता, उसका नाश नमस्कार से होता है ।

कृष्ण और शाम्ब की तरह भावनमस्कार में तत्पर हो जा और वीरासालवी तथा पालक की तरह द्रव्यनमस्कार मात्र से अपनी आत्मा की व्यर्थ विडंबना मत कर ।

जैसे नक्षत्रों में चद्रमा शोभायमान होता है, वैसे सभी पुण्यराशियों में भावनमस्कार सर्वश्रेष्ठ है । भाव नमस्कार के बिना जीव ने असंख्य बार द्रव्यलिंग ग्रहण किए और छोड़े, लेकिन कुछ भी फल नहीं मिला ।

यदि विधिपूर्वक आठ करोड़, आठ लाख, आठ हजार, आठ सौ आठ बार नमस्कार का जाप किया जाए, तो वह तीन भवों/जन्मों में मुक्ति दिला देता है ।

हे धर्मबंधु! सरल भाव से तुझसे फिर प्रार्थना करता हूँ कि संसाररूपी समुद्र में जहाज के समान होनेवाले इस मंत्र के प्रति शिथिल मत बन ।

यह भावनमस्कार अवश्यमेव उत्कृष्ट तेज है, स्वर्गापवर्ग का मार्ग है और दुर्गति का नाश करने के लिए अग्नि के कण के समान है । जो भव्य प्राणी अंत समय की आराधना के समय इसे पढ़े, सुने और इसका ध्यान करे, वह कल्याण की परंपरा को पा लेता है ।

जैसे आग लगने पर गृहस्थ घर का और सब कुछ छोड़कर सारभूत महारत्न को ही ग्रहण करता है, युद्ध में बहुत नाजुक समय में योद्धा अपना अमोघ शस्त्र ग्रहण कर लेता है, वैसे अंत समय में शक्ति न रहने से पूरे श्रुतस्कंध का चिंतन–पठन संभव न होने से धीर बुद्धि वाला सात्त्विक पुरुष द्वादशांगी के सारभूत पंचपरमेष्ठियों को ही याद करता है ।

समुद्र में से अमृत के समान, मलयाचल में से चंदन की तरह और दही में से मक्खन की तरह आगमों में से उद्घृत सभी श्रुतों के सारभूत और कल्याण की निधि होनेवाले इस नवकार को कोई धन्यपुरुष ही अपनाता है ।

पवित्र शरीर से, कमलासन में बैठकर, हाथों को योगमुद्रा में रखकर, संविग्न मन वाला होकर स्पष्ट, गंभीर और मधुर स्वर में पूर्ण पंचनमस्कार का सम्यक् ढंग से उच्चारण करना उत्सर्गविधि है ।

ग्लानि आदि के कारण इस विधि का पालन संभव न हो, तो परमेष्ठियों के नाम के आद्याक्षरों से बनने वाले **'असिआउसा'** इस मंत्र को याद कर भी असंख्य जीव यम के बंधन से मुक्त हुए है । अथवा उन आधाक्षरों की संधि करने से अ+अ+आ+उ+म् =ओऽम् (ॐ) बनता है ।

यह ॐ कार मोहरूपी हाथी को वश में करने के लिए अंकुश के समान है । यदि दैववशात् अंत समय में ॐ कार को भी याद करने की शक्ति न रहे, तो किसी धर्मबंधु से उसका श्रवण किया जाए और उस समय सोचे कि अहो! मेरे सभी अंगों पर अमृत की वृष्टि हो रही है और आनंदमय हो गया हूँ, क्योंकि इस पुण्यवान् धर्मबंधु ने परमपुण्य के कारणभूत, परमकल्याणकारी, परममंगल यह पंचनमस्कार मुझे सुनाया ।

अहो! मुझे दुर्लभ वस्तु का लाभ हो गया, प्रिय से संगम हुआ, तत्त्व का प्रकाश हुआ, हाथ में सारभूत वस्तु आई । आज मेरे कष्ट नष्ट हो गए, पाप पलायन कर गए और मैने संसाररूपी समुद्र का पार पा लिया, क्योंकि पाया कि मैं पंचनमस्कार को सुन सका ।

पंचनमस्कार के स्मरण से ही मेरा प्रशम, देव–गुरु की आज्ञा का पालन, नियम, तप और जन्म सब कुछ सफल हो गया ।

जैसे शुद्धि के लिए सुवर्ण को अग्नि का ताप सहना होता है, वैसे मेरी विपत्ति भी मेरे अच्छे के लिए हो गई, क्योंकि मुझे आज महामूल्यवान् नमस्कार का तेज प्राप्त हो गया ।

इस प्रकार शांतिरस के उल्लास के साथ नमस्कार की भक्ति करनेवाला जीव उत्तम देवताओं के भवों में उत्पन्न होकर वहाँ से च्यवित होकर उत्तम कुलों में उत्पन्न होता है और परम्परा से आठ भवों में सिद्धि प्राप्त कर लेता है ।

सातवाँ प्रकाश

सभी कालों तथा सभी क्षेत्रों में नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव से तीनों लोकों को पावन करने वाले श्री जिनेश्वर देव मेरे लिए शरणभूत हों।

ये जिनेश्वर भूतकाल में श्री **केवलज्ञानी** आदि हो गए, वर्तमानकाल में श्री **ऋषभदेव** आदि हुए और भविष्यत् काल में श्री **पद्मनाभ** आदि होंगे।

श्री सीमंधरस्वामी आदि विहरमान अरिहंत हैं। **श्री चंद्रानन, श्री वारिषेण, श्री वर्धमान** और **श्री ऋषभ** ये चार शाश्वत तीर्थंकर हैं। वर्तमान काल में वे संख्याता हैं। सभी विदेह, भरत और ऐरावत के भूतकाल में अनगिनत हुए और भविष्य काल में भी अनंत होंगे। वे केवलज्ञान के प्रकाश से देदीप्यमान हैं, अठारह प्रकार के दोषों से मुक्त हैं। पैंतीस गुणों से सुसज्ज देशना से वे तीनों लोकों के जीवों को बोधि का दान देते हैं। अनुत्तर विमानवासी देवता निरंतर उनका स्मरण करते हैं और दूसरा कोई नहीं दे सकता ऐसे मोक्षमार्ग का वे दान करते हैं।

ऐसे जिनेश्वरों का सम्यक् रीति से दर्शन करने से ही पाप पलायन कर जाता है, आधि–व्याधियाँ नष्ट हो जाती हैं और दरिद्रता दूर भाग जाती है।

जो जिह्वा प्रतिक्षण जिनेंद्रों के माहात्म्य की स्तुति नहीं गाती है, वह मांस के खंडस्वरूप होनेवाली जिह्वा निंद्य है। उससे अब कुछ भी मतलब नहीं है।

अरिहंतों के चरित्रों के अमृत जैसे मधुर स्वाद से जो कान अनभिज्ञ हैं, उन कानों और छेदों में कोई अंतर नहीं है। जो नेत्र सर्व अतिशयों से संपन्न श्री जिनबिंबों के दर्शन नहीं करते हैं, वे नेत्र नहीं, बल्कि मुखरूपी घर के छेद मात्र हैं।

अनार्यदेश में रहने वाला श्री आर्द्रकुमार अर्हत् प्रतिमा के दर्शन से संसार पार कर गया। शय्यंभव भट्ट जिनबिंब के दर्शन से क्षण में तत्त्वों का ज्ञानी हो गया और सुगुरु के चरणों की सेवा कर उत्तमफल को पाया।

सात्त्विकों में शिरोमणि श्री वज्रकर्ण राजा सर्वनाश के प्रसंग में भी वीतराग को छोड़ अन्य किसी के सामने नहीं झुके ।

देवतत्त्व, गुरुतत्त्व तथा धर्मतत्त्व में स्थिर चित्तवाले **वानर वंश के राजा 'वाली'** का तेज पूजनीय है ।

महासती सुलसा की दृढ़ता से जगद्गुरु श्री वीरपरमात्मा भी कल्याण वार्ता में उसका आदर करते हैं ।

श्री वीर को भावपूर्वक वंदन करने के लिए जानेवाला मेंढ़क रास्ते में ही मरकर सौधर्मकल्प में महर्द्धिक देव हो गया ।

हासा–प्रहासा का पति जिसे देवलोक में आभियोगिक के नीच कर्म से खेद हुआ था, उसने अपनी आत्मा की मुक्ति के लिए देवाधिदेव की प्रतिमा पृथ्वी तल पर प्रकट की ।

तीनों लोकों में प्रतापशाली चेटक राजा जिनचरणों की सेवा से पाप का ताप शांत कर सुरेंद्रों के चित्त में स्थान पा गए ।

देवेंद्र भी संसार को पराजित करने के लिए नंदीश्वर तीर्थ के अलंकार समान शाश्वत जिनमंदिरों में अष्टाह्निक महोत्सव मनाते हैं ।

शास्त्रों में कहा गया है कि स्वयंभूरमण समुद्र में जिनबिंबों की आकृति के समान होनेवाले मत्स्यों के दर्शन से अन्य मत्स्यों को भी जातिस्मरण ज्ञान होता है और वे मत्स्य नमस्कार में तत्पर होकर देवगति पाते हैं ।

मनुष्य, सुर और असुरों के साम्राज्य का निःशंकता से उपभोग कराना यह तो श्री जिनचरणों की कृपा की लीला का अंशमात्र है । मनुष्यलोक में चक्रवर्ती, देवलोक में शक्रेंद्र और पाताललोक में धरणेन्द्र विजयी रहते हैं, यह सब जिनशक्ति का प्रभाव है ।

श्री जिनाज्ञा को मुकुट की तरह मस्तक पर चढ़ाकर ग्यारह रुद्रों में से कितने ही संसार–सागर के पार हो चुके है और बाकी भी पार पाएंगे ।

जैसे पानी से अग्नि की ज्वालाएँ शांत हो जाती हैं और अमृत में विष की उर्मियाँ समाप्त होती हैं, वैसे शंकर आदि देवताओं कि कथाओं का विस्तार भी जिनेश्वरों की समता में विलिन हो जाता है ।

श्री जिनेश्वरों के चरित्रों को सम्यक् रीति से सुनने में सत्पुरुषों को यही पर आनंद की इतनी तल्लीनता रहती है कि उनको मोक्षप्राप्ति की भी इच्छा नहीं रहती, यह उचित ही है ।

जैसे पानी से प्यास बुझती है और अन्न से भूख मिटती है, वैसे ही जिनदर्शन मात्र से भव की पीड़ा शांत हो जाती है ।

समता को धारण करनेवाला जीव भले ही करोड़ों वर्षों तक समाधि पा लें, लेकिन अरिहंत की आज्ञा के बिना वे शिवपद नहीं प्राप्त कर सकते हैं ।

जिनधर्म को स्वीकार किए बिना, यदि कोई नियाणा बिना दान दे दे, सुंदर रीति से शील का पालन कर ले और प्रशंसनीय तपश्चर्या भी कर ले तो उसे भी परमपद की प्राप्ति नहीं होती है ।

जैसे सूरज के कारण दिन होता है, चंद्रमा से पुनम की रात होती है और मेघों के कारण सुकाल होता है, वैसे ही जिनेश्वरों के कारण अव्यय पद होता है ।

जैसे द्यूत पासों के अधीन और खेती वृष्टि के अधीन होती है, वैसे ही शिवपूर में वास जिनध्यान के अधीन होता है ।

तीनों लोकों की लक्ष्मी सुलभ है, अष्टसिद्धियाँ पाना भी आसान है, लेकिन जिनेश्वरों के चरणों की धूलि पाना अत्यंत कठिन है, दुर्लभ है ।

खेद की बात है कि-जैसे सूरज के प्रकाश को पाकर भी उल्लू अंधा ही रहता है, वैसे जिन को पाकर भी गाढ़ मिथ्यात्वी जीव अंधे ही रहते है ।

'जिन' ही महादेव हैं, स्वयंभू हैं, पुरुषोत्तम हैं, परमात्मा है, बुद्ध हैं, अलक्ष्य है, स्वर्ग–मृत्यु–पाताल के स्वामी हैं ।

बुद्ध, महादेव आदि को तो सत्त्व, रज और तमस् इन तीन गुणों वाला विषयों का ज्ञान ही होता है, लेकिन लोकोत्तर सत्त्व से उत्पन्न होनेवाला ज्ञान तो श्री जिनेश्वरों को ही होता है ।

जैसे बादलों का पानी तालाब में पड़ने के बाद लोग कहते हैं कि **'यह तालाब का पानी है'** , वैसे ही अरिहंत के वचन हरिहर आदि में पड़ते हैं, और अज्ञानी लोग उन्हें अपने–अपने देवता के वचन मानते हैं ।

लोकोत्तर सत्त्व को बताने वाले जितने भी नाम हैं, वे वास्तव में अरिहंत के ही हैं । उनके अतिरिक्त सत्त्व, रज और तम गुणों के आभास से उत्पन्न होनेवाले नाम तो मुझ जैसों को भी इस संसार में करोड़ों बार प्राप्त हुए हैं ।

मूर्ख लोग अपने देव के हजार नाम सुनकर खुश हो जाते हैं, जैसे सियार को बेर जैसा तुच्छ फल मिला, तो भी वह उसके महोत्सव के लिए होता है । अनंत गुण सिद्ध होने के कारण जिन के नाम भी अनंत हैं, अथवा निर्गुण (सत्त्व आदि गुणों से रहित) होने के कारण जिन के जप नाम ही नहीं हैं, तो उसकी संख्या कैसे गिने ? सत्त्व, रज और तमोगुण से रहित परमेष्ठियों के प्रभाव से ही यह विश्व अज्ञान के कीचड़ में फँसा नहीं जाता है । मुझे ऐसा लगता है कि लोक के अग्रभाग पर जाने से पूर्व श्री अरिहंतदेव जगत् के जीवों को पार से बचाने के लिए पुण्य यहीं छोड़ गए ।

समिति पालन में अप्रमत्त प्रभु से पाप भवारण्य में भाग गया और उसके ध्वंस के लिए पुण्य भी पीछे–पीछे चला गया । इस प्रकार पाप–पुण्य दोनों से विनिर्मुक्त भगवान् जिन, लोकाग्र पर आरुढ़ होकर मुक्तिकांता के साथ विलास करते हैं ।

जिन दाता हैं, जिन भोक्ता हैं, जिन सारा जगत् हैं, जिन सर्वत्र विजयी हैं और जिन ही आत्मा है । इस प्रकार ध्यानरस के आवेश से तन्मयता पाए हुए जीव इहलोक और परलोक में निर्विघ्न रूप में सकल लक्ष्मी को पाते है, सकल लक्ष्मी का वरण करते हैं ।

आठवाँ प्रकाश

आठ कर्मों से मुक्त और पंद्रह भेदों से प्रसिद्ध सिद्ध भगवंत जो अरिहंतों को भी मान्य हैं, उनका कौन सत्पुरुष स्मरण नहीं करता ?

निरंजन, चिदानंद, रूपरहित, स्वभाव से लोकाग्रप्राप्त, अनंतचतुष्टयधारी, आदि–अनंत स्थिति को भजनेवाले, इकतीस गुणों से युक्त, परमेश्वर परमात्मा सिद्ध भगवंतों की मुझे सदा शरण मिले ।

छत्तीस गुणों से विभूषित श्री गणधर मुझे शरण दें ।

सभी सूत्रों के उपदेशक उपाध्याय मुझे शरण दें ।

दस प्रकार के धर्म में सदा लीन, सदा सामायिक में स्थिर और रत्नत्रयधारी साधुओं की शरण मुझे मिले ।

चराचर जगत् के लिए आधारभूत केवलीप्रणीत धर्म मेरी परमशरण हो ।

धर्मरूपी हिमालय ज्ञान–दर्शन–चारित्र रूपी नदियों से तीनों भुवनों को पवित्र करता है । विविध दृष्टांत, हेतु, युक्ति आदि से मनोहर स्याद्वाद तत्त्व में मैं लीन हो गया हूँ ।

नवतत्त्वरूपी अमृतकुंड से भरा सर्वज्ञ सिद्धांत गंभीर होने से पाताल जैसा लगता है । श्री जिनागम सभी ज्योतिषियों को मान्य है, मध्यस्थता का आश्रय करने वाला है और विचारशील पुरुषों का स्थान है ।

श्री जिनेश्वर की वाणी धर्मराजा की राजधानी है, दुष्ट कर्मों को जला डालने वाली है, संदेह को काटनेवाली है, कल्याण की वृद्धि करनेवाली है ।

इस प्रकार नमस्कार के ध्यान में मग्न आत्माओं की कर्मग्रंथि नष्ट हो जाती है । श्री, ह्री, धृति, कीर्ति, बुद्धि और लक्ष्मी की लीला को प्रकाशित करनेवाले और देवों के साम्राज्य तथा शिवपद को देनेवाले पंचनमस्कार की सदा विजय हो ।

सरस्वती नदी के किनारे श्री सिद्धपुर नगर में **श्री सिद्धसेनसूरिजी** ने यह **श्री नमस्कार माहात्म्य** लिखा है ।

15

नमस्कार के स्तोत्र

नवकारफल प्रकरणम्

घणघाइकम्ममुक्का अरहंता तह य सव्व सिद्धा य ।
आयरियउवज्झाया पवरा तह सव्वसाहू य ।।1।।
एयाण नमुक्कारो पंचण्ह वि पवरलक्खणधराणं ।
भवियाण होइ सरणं संसारे संसरंताणं ।।2।।

अर्थ :– घनघाति–कर्मों से मुक्त अरिहंत, सभी सिद्ध, प्रवर आचार्य, उपाध्याय तथा सभी साधु–श्रेष्ठ लक्षणों को धारण करने वाले इन पाँचों परमेष्ठियों को किया गया नमस्कार संसार में भटकने वाले भव्य जीवों के लिए शरण रूप है ।

उड्ढमहोतिरियम्मि य जिणणवकारो पहाणओ नवरं ।
नरसुरसिवसुक्खाणं कारणं इत्थ भुवणम्मि ।।3।।

अर्थ :– ऊर्ध्वलोक, अधोलोक और तिर्च्छालोक में श्री जिन नवकार प्रधान है और समस्त भुवनों में नरसुख, सुरसुख और शिवसुख का परम कारण है ।

तेण इमो निच्चं चिय, पढिज्ज सुत्तुट्ठिएहि अणवरयं ।
होइ च्चिय दुहदलणो सुहजणणो भवियलोयस्स ।।4।।

अर्थ :– इसलिए सोते–उठते इस नवकार को निरंतर गिनना चाहिए । भव्य जीवों के लिए यह निश्चय ही दु:ख का दमन करनेवाला और सुख को उत्पन्न करनेवाला होता है ।

जाए वि जो पढिज्जइ जेण य जायस्स होइ बहुरिद्धि ।
अवसाणे वि पढिज्जइ जेण मओ सुग्गइं जाइ ।।5।।

अर्थ :– जन्म के समय इसे गिना जाए तो जन्म पाने के बाद यह बहुत ऋद्धियाँ देनेवाला होता है और मृत्यु के समय इसे गिना जाए तो मृत्यु के बाद यह सुगति देनेवाला सिद्ध होता है ।

आवईहिं पि पढिज्जइ जेण य लंघेइ आवइसयाइं ।
रिद्धीहिं पि पढिज्जइ जेण य सा जाइ वित्थारं ।।6।।

अर्थ :– इसे यदि आपत्ति के समय गिना जाए, तो सैकड़ों आपत्तियाँ भी समाप्त हो जाती हैं और ऋद्धि के समय गिना जाए तो ऋद्धि का विस्तार होता है ।

नवसिरि हुंति सुराणं विज्जाहरतेय नवररिंदाणं ।
जेण इसो नवकारो सासु व्व पइट्ठिओ कंठे ।।7।।

अर्थ :– इस नवकार को जो श्वास की तरह कंठ में स्थापन करते हैं, वे देवता हों तो नवलक्ष्मी को पा लेते हैं और नरवरेंद्र हों, तो विद्याधर का तेज प्राप्त करते हैं ।

जह अहिणा दट्ठाणां गारुडमंतो विसं पणासेइ ।
तह नवकारो मंतो पावविसं नासइ असेसं ।।8।।

अर्थ :– जिस प्रकार गारुडमंत्र सर्पदंश हुए मनुष्य के विष को नष्ट करता है, वैसे नवकार महामंत्र समग्र पापरूपी विष का नाश करता है ।

किं एस महारयणं? किं वा चिंतामणि व्व नवकारो?
किं कप्पद्दुम सरिसो? न हु न हु ताणं वि अहिययरो ।।9।।
चिंतामणि रयणाइं कप्पतरु इक्कजम्मसुहहेऊ ।
नवकारो पुण पवरो सग्गऽपवग्गाण दायारो ।।10।।

अर्थ :– क्या यह नवकार महारत्न है? या चिंतामणि के समान है? या कल्पवृक्ष जैसा है? नहीं, नहीं, यह तो उनसे भी बढ़कर है । चिंतामणि रत्न और कल्पतरु तो सिर्फ एक जन्म में सुख के कारण हैं, जबकि श्रेष्ठ नवकार स्वर्गापवर्ग देनेवाला है ।

जं किंचि परमतत्तं परमप्पकारणं च जं किंचि ।
तत्थ वि सो नवकारो झाइज्जइ परमजोगीहिं ।।11।।

अर्थ :– जो कोई परमतत्त्व है और जो कोई परमपद का कारण है, उनमें भी यह नवकार ही परम योगियों के लिए विचारणीय है ।

जो गुणह लक्खमेगं पूएइ विहीइ जिणनमुक्कारो ।
तित्थयरनामगुत्तं सो बंधइ नत्थि संदेहो ।।12।।

अर्थ :– इसमें कोई संदेह नहीं है कि जो एक लाख बार नवकार गिनता है और श्री जिनेश्वरदेव की विधिपूर्वक पूजा करता है, वह तीर्थंकर नामगोत्र बाँध लेता है ।

सट्ठिसयं विजयाणं पवराणं जत्थ सासओ कालो ।
तत्थ वि जिणनवकारो इय एस पढिज्जइ निच्चं ।।13।।

अर्थ :– पाँच महाविदेहों के प्रमुख 160 विजयों में, जहाँ शाश्वत काल है, वहाँ भी श्री जिन नवकार निरंतर पढ़ा–जपा–सुना जाता है ।

एरावरहिं पंचहिं पंचहिं भरहेहिं सुच्चिय पढंति ।
जिणनवकारो एसो सासणसिवसुक्खादापारो ।।14।।

अर्थ :– पाँच ऐरावत और पाँच भरतों में भी शाश्वत् सुख को देनेवाला यही नवकार गिना जाता है ।

जेण मरंतेण हमो नवकारो पाविओ कयत्थेण ।
सो देवलोइ गंतुं परमपयंतं पि पावेइ ।।15।।

अर्थ :– मरते समय जिस कृतार्थ पुरुष ने यह नवकार प्राप्त कर लिया, वह देवलोक में जाता है या परमपद भी प्राप्त कर लेता है ।

एसो अणाइकालो अणाइजीवो अणाइजिणधम्मो ।
तइया वि ते पढंता एसु च्चिय जिणनमुक्कारं ।।16।।

अर्थ :– काल अनादि है, जीव अनादि है और यह जिनधर्म भी अनादि है । जब से जिनधर्म है, तब से नवकार भव्य जीवों के द्वारा गिना जाता है ।

जे केइ गया मुक्खं, गच्छंति य केऽवि कम्ममलमुक्का ।
ते सव्वे च्चिय जाणसु जिणनवकारप्पभावेणं ।।17।।

अर्थ :– अब तक जो कोई मोक्ष गए हैं और जो कर्ममल से रहित होकर मोक्ष में जाते हैं, वे सभी जिन नवकार के प्रभाव से गए हैं, ऐसा मानना चाहिए ।

न हु तस्स किंचि पहवइ डाइणि-वेयाल-रक्ख-मारिभयं ।
नवकारपभावेणं, नासंति सयलदुरियाइं ।।18।।

अर्थ :– नवकार के प्रभाव से डाकिनी, वैताल, राक्षस और मारि आदि का भय कुछ नहीं कर सकता और सभी पाप और दुरित नष्ट हो जाते हैं ।

वाहि-जल-जलण-तक्कर-हरि-करि-संगाम-विसहर-भयाई ।
नासंति तक्खणेणं जिणनवकारप्पभावेणं ।।19।।

अर्थ :– श्री जिननवकार के प्रभाव से व्याधि, जल, अग्नि, चोर, सिंह, हाथी, संग्राम, साँप आदि के भय भी तत्काल नष्ट हो जाते हैं ।

इय एसो नवकारो भणिओ सुरसिद्ध खयरपमुहेहिं ।
जो पढइ भत्तिजुत्तो सो पावइ परमनिव्वाणं ।।20।।

अर्थ :– यह नवकार सुर, सिद्ध, देव आदि द्वारा पढ़ा–गिना जाता है । उसे जो कोई भक्तियुक्त होकर गिनता/ध्यान करता है, वह परमनिर्वाण को प्राप्त करता है ।

अडवि-गिरि-रन्नामज्झे भयं पणासेइ सुमरिओ मंतो ।
रक्खइ भविसयाइं माया जह पुत्तभंडाई ।।21।।

अर्थ :– जंगल पर्वत अथवा अरण्य के मध्य में स्मरण किया गया यह नवकार भय का नाश करता है । माता जैसे पुत्रों और पोतों की रक्षा करती है, वैसे नवकार सैकड़ो भव्य जीवों की रक्षा करता है ।

थंभेइ जलं जलणं चिंतियमित्तोऽवि पंचनवकारो ।
अरिमारिचोरराउलघोरू–वसग्गं पणासेइ ।।22।।

अर्थ :– पंच नवकार का चिंतन करते ही वह जल और अग्नि को रोक देता है । वह शत्रुओं, बीमारियों (मारि), चोरों और राजाओं के घोर उपसर्गों का नाश कर देता है ।

हिययगुहाए नवकारकेसरी जाण संठिओ निच्चं ।
कम्मट्ठगंठिदोघट्टयं ताप परिनट्ठं ।।23।।

अर्थ :– जिनके हृदयरूपी गुफा में नवकाररूपी केसरी–सिंह निरंतर रहता है, उनका आठ कर्मों की गाँठरूप हाथियों का समूह सभी प्रकार से नष्ट हो जाता है ।

तवसंजमदाणरहो पंचनमुक्कार सारहिनिउत्तो ।
नाणतुंरगमजुत्तो नेइ फुडं परमनिव्वाणं ।।24।।

अर्थ :– पंचननमस्काररूपी सारथी से युक्त और ज्ञानरूपी घोड़ों से जुता हुआ तप, संयम और दानरूपी रथ प्रकट रूप में परम निर्वाण की ओर ले जाता है ।

जिणसासणस्स सारो चउदसपुव्वाण जो समुद्धारो ।
जस्स मणे नवकारो संसारो तस्स किं कुणइ? ।।25।।

अर्थ :– जो श्री जिनशासन का सार है, चतुदर्श पूर्वों का सम्यक् उद्धार है, वह नवकार जिसके मन में स्थिर है, उसका संसार क्या कर सकता है? अर्थात् कुछ भी करने में समर्थ नहीं हैं ।

।। इति श्री लघुनमस्कारफलं-सगाथार्थः ।।

16

बृहन्नमस्कारफलस्तोत्रम्

वंदित्तु वद्धमाणं जिणेसरं नियगुरुं च देवं च ।
पंच नमुक्कारफलं जहासुयं लेसओ भणिमो ।।1।।

श्री वर्धमान जिनेश्वर और अपने गुरुदेव जिनेश्वरसूरि जी को नमस्कार कर सूत्र में पंचनवकार के बताए गए फल को संक्षेप में बताता हूँ ।

ओ भद्द! भूरिभाविभीमभावारिवारविजईणं ।
अरहंताणं तह कम्ममलविसुद्धाणं सिद्धाणं ।।2।।
आयारपालयाणं आयरियाणमहं सुत्तदाईणं ।
उज्झायाणं सिवसाहगाणं तह सव्वसाहूणं ।।3।।
निच्चं भव उज्जुतो समाहियप्पा पहीणकुवियप्पो ।
सिद्धिसुहसाहणम्मी नूणं नमुक्कार करणम्मि ।।4।।

है भद्र! अत्यंत भयंकर भाव शत्रुओं पर विजय पानेवाले अरिहंतों को, कर्म मैल से रहित अत्यंत शुद्ध हुए सिद्ध भगवंतों को, आचार का पालन करनेवाले आचार्य भगवंतो को, भावसूत्र देनेवाले उपाध्याय भगवंतों और शिवसुख के साधक साधु भगवंतों को नमस्कार करने के लिए निरंतर तैयार हो जा । अर्थात् सिद्धिसुख के साधनभूत नमस्कार के प्रति समाहित अंतःकरणवाला बनकर और कुविकल्पों को त्यागकर उनके प्रति परम आदर रखनेवाला बन जा ।

जेणेस नमुक्कारो सरणं संसारसमरपडियाणं ।
कारणमसंखदुक्खक्खयस्य हेऊ सिवयहस्स ।।5।।

क्योंकि यह नमस्कार संसाररूपी समरांगण में पड़ी हुई आत्माओं के असंख्य दुःखों के क्षय का कारण है और शिवपथ का परम हेतु है ।

कल्लाणकप्पतरूणो अवंझबीयं पयंडमायंडो ।
भवहिमगिरिसिहराणं पक्खिपहू पावभुयगाणं ।।6।।

आमूलुक्खणणंमी वराहदाढ़ा दारिद्दकंदस्स ।
रोहणधरणी पढ़मुब्भवंत सम्मत्तरयणस्स ।।7।।

कुसुमग्गमो य सुग्गइ आउय बंधदुमस्स निव्विग्घं ।
उवलंभचिंधममलं विसुद्धसद्धमसिद्धिए ।।8।।

यह कल्याणकल्पतरु का अवंध्य बीज है । संसाररूपी हिमगिरि के शिखरों को पिघलाने के लिए यह प्रचंड सूर्यतुल्य है । पापरूपी साँपों को वश में करमे के लिए यह गरुड़ पक्षी है । दरिद्रता के कंद को मूल से उखाड़ देने के लिए यह वराह की दाढ़ों के समान है । सम्यक्त्वरत्न की उत्पत्ति के लिए वह रोहणाचल की धरती है । सुगति के आयुष्यबंध रूपी वृक्ष का यह पुष्पोद्गम है और विशुद्ध सद्धर्म की निर्विघ्न सिद्धि की निर्मल प्राप्ति का चिह्न है ।

अन्नं च एयस्स जया विहिविहियसव्व आराहणापयारस्स ।
कामिय फलसंपा यणपहाण मंतस्स पभवो ।।9।।

सत्तु वि होई मित्तो तालउडविसं पि जायए अमियं ।
भीमाजवी य वियरइ चित्तरइं वासभवणं च ।।10।।

जब विधिविहित सभी प्रकार की आराधना से इच्छित फल प्राप्त करने के लिए प्रधान मंत्रतुल्य नवकार का प्रभाव होता है, तब शत्रु भी मित्र बन जाते हैं, कालकूट विष भी अमृत बन जाता है और भयंकर अरण्य चित्त को आनंद देनेवाला वासभवन बन जाता है ।

चोरा वि रक्खगत्तं उविंति साणुग्गहा हंवति गहा ।
अवसउणा वि हु सुहसउण साहणिज्जं जणंति फलं ।।1।।

चोर भी रक्षक बन जाते हैं, ग्रह अनुग्रह करनेवाले बनते हैं और अपशकुन भी शुभ शकुन से इष्ट फल देनेवाले बन जाते हैं ।

जणणीओ इव न कुणंति डाइणीओऽवि थेवमवि पीडं ।
पहवंति निरुद्धा मंततंतजंतप्पयारा वि ।।12।।

माता की तरह डाकिनी थोड़ी भी पीड़ा नहीं देती हैं, वैसे ही मंत्र, तंत्र और यंत्र के प्रकार भी रुक जाते हैं अर्थात् कुछ नहीं कर सकते हैं ।

पंकयपुंजुव्व सिही सिंहो गोमाउय व्व वणहत्थी ।
मिगसावु व्व विहावह पंचनमुक्कार सामत्था ।।13।।

पंचनमस्कार के सामर्थ्य से अग्नि कमल के समूह के समान, सिंह सियार जैसा और वन हाथी मृग के बच्चे की तरह बन जाता है ।

इत्तुच्चिय सुमरिज्जइ निसियणउट्ठाण खलणपडणेसु ।
सुरखेयर पभिइहिं एसो परमाए भत्तीए ।।14।।

इस कारण यह नवकार सुर, देवता आदि के द्वारा बैठते–उठते, ठोकर खाते, या गिरते समय परम भक्तिपूर्वक स्मरण किया जाता है ।

किंच धन्नाणं मणोभवणे सद्धाबहुमाणवट्टिनेहिल्लो ।
मिच्छित्ततिमिरहरणो वियरइ नवकार वरदीवो ।।15।।

यह नवकाररूपी दीपक, श्रद्धारूपी बत्ती और बहुमानरूपी तैल से युक्त होकर मिथ्यात्वरूपी अंधकार हरण करने से धन्य पुरुषों के मनरूपी भवन में विशेष सुशोभित होता है ।

जाण मणवणनिगुंजे रमइ नमुक्कार केसरिकिसोरो ।
ताणं अणिट्ठदोघट्टघडणा न नियडेह ।।16।।

जिनके मन रूपी वननिकुंज में नवकाररूपी केसरी किशोर–सिंह का बच्चा खेलता है, उनको कभी अनिष्टरूपी हाथियों के समूह का संयोग नहीं होता है ।

ता निबिड निगड घडणा, गुत्ति ता वज्जपंजरनिरोहो ।
नो जावज्जवि जविओ, पंच नमुक्कार वरमंतो ।।17।।

जटिल बंधनों से युक्त कैदखाना अथवा वज्रपंजर का निरोध तभी तक पीड़ा कर सकता है जब तक श्रेष्ठ पंच नमस्कार मंत्र का जाप नहीं किया हो ।

दप्पिट्ठदुट्ठनिट्ठरसुरुट्ठ दिट्ठी वि ताव होइ परा ।
नवकारमंतचिंतनपुव्व न पलोइआ हाव ।।18।।

जब तक नवकारमंत्र को चिंतनपूर्वक नहीं देखा, तभी तक दर्पिष्ठ दुष्ट निष्ठुर व रुष्ट ऐसी किसी की दृष्टि पीड़ा देती है ।

मरण–रंणगण–गणसंगमे गामे गामनगर माईणं ।
एयं सुमरंताणं, ताणं सम्माणणं च भवे ।।19।।

मृत्यु, समरांगण और मल्लों के लड़ने व ग्राम–नगरादि के गमन समय नवकार का स्मरण करनेवाले को रक्षण अर्थात् शरण और सम्मान की प्राप्ति होती है ।

तहा–जलमाणमणिप्पह-फुल्लफारफणि वइफणागणाहिंतो ।
पसरंत किरण भरभग्ग भीमतियिरम्मि पायाले ।।20।।
चिंताणंतर घडमाणं माणसाणंदिइंदियत्था जं ।
विलसंति दाणवा किर तं खु नमुक्कार फुरियलवो ।। 21।।

जाज्वल्यमान मणिप्रभा द्वारा प्रफुल्ल ऐसी विशाल फणिपति की फनाओं के समूह से फैलनेवाले किरणों के भार से जहाँ का भयंकर अधंकार भाग गया है ऐसे पाताललोक में, चिंतन करते ही चित्ताह्लादक इन्द्रियविषयक बनते हैं, उन दानवों का विलास नवकार के फल का एक अंशमात्र है ।

जं पि य विसिट्ठपयवी-विज्जविन्नाणविणयनयनिउणं ।
अखलियपसरं पसरंतकंतजसभरियभुवणयलं ।।22।।
अच्चंतऽणुरत्त-कलत्तपुत्तपामुक्खसयलसुहिसयणं ।
आणापडिच्छणुच्छाहिदच्छ गिहि कम्मकारिजणं ।।23।।
अच्छिन्नलच्छिविच्छड्डसामिभोइत्तवियरणपहाणं ।
रायामच्चाइविसिट्ठ लोयपयईबहुमयं च ।।24।।
जहचिंतिय फलसंपत्ति सुंदर दिन्नदुक्कहचमक्कं ।
पाविज्जइ मणुयत्तं तं च नमुक्कारफललेसो ।।25।।

विशिष्ट पदवी, विद्या, विज्ञान, विनय और न्याय से निपुण, अस्खलित प्रसारवाला, मनोहर यशवाला, अत्यंत प्रेम करनेवाली पत्नी और बच्चों से युक्त सुखी स्वजनोंवाला, आज्ञा की ही प्रतीक्षा करनेवाले

उत्साही और तत्पर गृहकर्म करनेवाले परिजनों वाला, अविच्छिन्न लक्ष्मी के लिए विस्तार का स्वामी, उपभोगी और दानी, राजा–मंत्री आदि विशिष्ट लोगों और प्रजाजनों की ओर से सम्मानित, अभीष्ट फल प्राप्ति के द्वारा सुंदर और विरोध करने वाले लोगों के चित्त को चमत्कृत करनेवाला ऐसा जो मनुष्यपना प्राप्त होता है, वह भी नवकार के फल का एक अंग मात्र ही है ।

जं पि य सव्वंग-पहाण-लडह-चउसट्टि सहसविलयाणं ।
बत्तीससहस्समहप्पभावभासंतसामंतं ।।26।।
पवरपुरसरिस छन्नवइगामकोडी कडप्पदुप्पसरं ।
सुरनयरसरिसपुरवरबिसत्तरीसहससंखालं ।।27।।
बहुसंखखेड कब्बडमडंब दोणमुहपमुहबहुवसिमं ।
दीसंतकंतसुंदर संदणसंदोहदिन्नवीहिं ।।28।।
परचक्कचप्पणाणप्पसत्तिपाइक्कचक्कसंकिन्नं ।
पगलंतगंडमंडलपयंडदोघट्टघट्टिलं ।।29।।
मणपवणचंचल खरक्खरुक्खयखोणितरलतुरमा लं ।
सोलसहस्स परिसंखजक्खरक्खापरिक्खित्तं ।।30।।
नवनिहिचउदसरयणप्पभाव पाउब्भवंतसयलत्थं ।
छक्खंड भरहखित्ता हि वत्तणं लब्भए भुवणे ।।31।।
तं पि हु किर सद्धासलिलसेग परिवड्ढियस्स तस्सेव ।
पंचनमुक्कारतरुस्स कोऽवि फलविलसिमविसेसो ।।32।।

फिर सभी अंगो में प्रधान शोभायुक्त चौंसठ हजार स्त्रियों से युक्त/ बत्तीस हजार बड़े प्रभावशाली सामंत राजाओं के आधिपत्य से युक्त, बड़े नगरसदृश छियानवे करोड़ गाँवों के विस्तारवाला, देव नगर के समान बहत्तर हजार श्रेष्ठ नगरों वाला, बहुसंख्य गाँव, कर्बट, मडंब, द्रोणमुख आदि बड़ी–बड़ी बस्तियोंवाला, देदीप्यमान, मनोहर और सुंदर रथों के समुदाय से युक्त राजमार्गोंवाला, दुश्मनों के समुदाय को कुचल डालने में समर्थ पैदल सेना के समुदायवाला, जिनके गंडस्थलों

से अत्यंत मदजल झरता है ऐसे अत्युग्र हाथियोंवाला, मन और पवन से भी चंचल और अपने कठोर खुरों से जिन्होंने धरती को खोद दिया है ऐसे तेज घोड़ों की मालावाला, सोलह हजार यक्षों के समुदाय से सुरक्षित, नवनिधि और चौदह रत्नों के प्रभाव से उद्भूत सकल अर्थों से युक्त छह खंड भरतक्षेत्र का अधिपत्य भुवन में जो प्राप्त होता है, वह भी सचमुच श्रद्धारूपी जल के सिंचन में परिवर्द्धित पंचनमस्काररूपी वृक्ष के किसी एक फल का ही विलास है ।

जं पि य सियदेवंसुयसंवुय सुर सयण सुंदरुच्छंगो ।
सिप्पिपुडंतो मुत्ताहलं च उववज्जइ तत्तो ।।33।।
आजम्मं रम्मतणू आजम्म सुहग्गाजुव्वणावत्थो ।
आजम्मं रोगजरारयसेयविवज्जियसरीरो ।।34।।
आजम्म ण्हारूवसट्ठिमंसरूहिराइतणुमलविमुक्को ।
आजम्मं अमिलायंतमल्लवरदेवदूसधरो ।।35।।
उत्तत्त जच्चकंचणतरुणदिवायरसरिच्छहसरीरो ।
पंचप्पहरयणाहरण किरणकब्बुरियदिसिचक्को ।।36।।
अक्खंडगंडमंडललुलंतकुंडलपहापहासिल्लो ।
रमणीयरमणअमर रमणीगण मणहरो किंच ।।37।।
गहचक्कमिक्कहेलं पाडेउं भूयलं भमाडेउं ।
सयलकुलालचक्कं चूरेउं तह य लीलाए ।।38।।
माणस-पमुह-महासर-सरियादहसायराण सलिलाइं ।
पलयपवणु व्व समकालमेव सत्तो विसोसेउं ।।39।।
तेलुक्कपुरणत्थं झत्ति विउव्वियमहल्लबहुरूवो ।
परमाणुमित्तरूवोऽवि तह य होउं लहु समत्थो ।।40।।
तह इक्ककरंगुलिपंचगस्स पत्तेयमग्गभागेसु ।
मेरुपणगा उ इक्किक्कमिक्ककालं धरणसत्तो ।।41।।
किं बहुणा संतं पिहु असंतयं तह यऽसंतमवि संतं ।
वत्थू इक्कखणि च्चिय दरिसेउमलं करेउं च ।।42।।

नमिरसुर विसरसिरमणि मऊहरिंछोलिविच्छुरियपाओ ।
भूभंगाइट्ठपहिट्ठसंभमुट्ठितपरिवारो ।।43।।
चिंताऽणंतरसहसत्ति संघडंताणुकूलविसयगणो ।
अणवरयरइरसाविल–विलासकरणिक्क–दुल्ललिओ ।।44।।
निम्मल–ओहिन्नाणानिमेसेसदिट्ठिए दिट्ठदट्ठव्वो ।
समकालोदयसमुविंतसयल सुहकम्मपयइ च ।।45।।
रिद्धिपबंधबंधुरविमाण–मालाहिवत्तणं सुइरं ।
पालइ अखलियपसरं सुरलोए किर सुरिंदोऽवि ।।46।।
तह पि असेसं जाणसु सम्मं सब्भावगब्भविहियस्स ।
पंचनमुक्काराराहणस्स लीलाइयलवु त्ति ।।47।।

फिर श्वेत दिव्य वस्त्रों से ढकी हुई देवशय्या में छीप के मध्य में होनेवाले मोती के समान सुंदर अंगो के साथ जो उत्पन्न होता है और उत्पन्न होने के बाद जो आजन्म सौभाग्य और युवावस्थायुक्त, आजन्म सुन्दर शरीरवाला, आजन्म बीमारियां, बुढ़ापा, धूल और पसीने से रहित शरीरवाला, आजन्म स्नायुएँ, नसे, मेद–चरबी, हड्डियाँ, मांस, रक्त आदि शरीर के मैल से मुक्त, आजन्म अम्लान पुष्पमालाएँ और श्रेष्ठ देवद्रव्य वस्त्र को धारण करनेवाला उत्तम जाति के कांचन और युवासूरज के समान शोभायुक्त शरीरवाला, पाँच प्रकार के रत्नमय आभूषणों की किरणों से दिशाओं के चक्र को प्रकाशित करने वाला, लटकनेवाले कुंडलों की प्रभा से संपूर्ण गंडमंडल (कंठ से कानों का भाग) प्रभासित होनेवाला ।

रमणीय रमणशील देवरमणियों के समूह के मन को हरण करनेवाला, लीलामात्र से ग्रहचक्र को गिराने और भूतल को घुमाने में समर्थ, लीलापूर्वक सभी मुख्य सात पर्वतों के समूह को चूर करने में और मानस आदि महासरोवर, सरिताओं, द्रहों और सागरों के पानी को प्रलयकाल के पवन के समान एकसाथ सोख डालने में समर्थ, बड़े और अनेक वैक्रिय रूपों द्वारा एक साथ तीनों लोकों को भरने में और परमाणु

जैसा रूप करने में भी समर्थ, एक हाथ की पाँचों उंगलियों पर प्रत्येक अंगुली के अग्रभाग पर एकसाथ पाँचों मेरुओं को धारण करने में समर्थ, बहुत क्या कहा जाए ? एक क्षण में सत् वस्तु को असत् और असत् वस्तु को सत् दिखाने और करने में निश्चय ही समर्थ तथा झुकनेवाले देवसमूह के मस्तकों पर होनेवाले मणियों की किरणों की श्रेणी से जिसके चरण व्याप्त हैं ऐसा, जिसके आदेश से हर्षित हुआ परिवार उत्कंठा के साथ खड़ा रहता है, मन में लाते ही तुरंत अनुकूल विषयों का समुदाय जिसके लिए संघटित होता है, रतिरस से भरपूर विलास करने में निरंतर तल्लीन, निर्मल अवधिज्ञान और अनिमेष दृष्टि से देखने योग्य सभी पदार्थ देखने में समर्थ, जिसकी सभी शुभ कर्मों की प्रकृतियाँ समकाल में उदित हुई हैं ऐसा, ऋद्धियों के प्रबंध से मनोहर विमानों के समुदायों का आधिपत्य जिसे प्राप्त हुआ है ऐसा अस्खलित सुरेंद्र भी लंबे समय तक जिस देवलोक का पालन करता है, यह सब सद्भावगर्भित पंचनमस्कार की, की हुई आराधना की लीला का एक अंश मात्र ही है, यह जानना चाहिए ।

उड्ढाहोतिरियतिलोगरंगमज्झंमि अइसयविसेसो ।
दव्वं खित्तं कालं भावं च पडुच्च चुज्जकरो ।।48।।
दीसइ सुणिज्जए वा जो कोऽविहु कहवि कस्स वि जणस्स ।
सव्वोऽसि सो नमुक्कारसरण माहप्पनिप्फन्नो ।।49।।

ऊर्ध्व, अधो और तिर्यक्स्वरूप तीन लोकरूपी रंगमंडप में द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव से जिस किसी को जो कोई आश्चर्यजनक अतिशय विशेष दिखाई देता है अथवा सुनाई देता है, वह सब नमस्कार शरण की ही महिमा जाननी चाहिए ।

जलदुग्गे थलदुग्गे पव्वयदुग्गे मसाणदुग्गे वा ।
अन्नत्थ वि दुग्गपए ताणं सरणं नमुक्कारो ।।50।।

जलदुर्ग, स्थलदुर्ग, पर्वतदुर्ग, श्मशानदुर्ग के बारे में अथवा अन्यत्र भी दुर्ग यानी कष्टपथ के लिए एक नवकार ही रक्षा का उपाय और शरण है ।

वसि (सी) यरणुच्चाडणथोभणेसु सु (स) इखोभथंभणाईसु ।
एसुच्चिय पच्चलओ तहा पउत्तो नमुक्कारे ।।51।।

वशीकरण, उच्चाटन, रोकना, प्रसूति, क्षोभ और स्तंभन आदि कार्यों के लिए विधिपूर्वक उपयोग में लाया गया नमस्कार ही समर्थ है ।

मंतंतर–पारद्धाइं जाइं कज्जाइं ताइं सव्वाइं (वसमेइ)
ताणं चिय निय–सुमरण–पुव्वारद्धाण सिद्धिकरो ।।52।।

अन्य मंत्रों से प्रारंभ किए हुए जो कार्य पूरे नहीं हुए वे सभी नवकार के स्मरण के साथ प्रारंभ किए जाएँ तो शीघ्र सिद्ध हो जाते हैं ।

ता सयलाओ सिद्धीओ मंगलाइं च अहिलसंतेणं ।
सव्वत्थ सया सम्मं चिंतेयव्वो नमुक्कारो ।।53।।

इसलिए सकल सिद्धियों और मंगलों की इच्छा रखनेवाली आत्मा को सर्वत्र निरंतर सम्यक् रीति से नवकार का चिंतन/जप करना चाहिए ।

जागरणसुयणछीयणचिट्ठणचंकमण–खलणपडणेसु ।
एस किर परममंतो अणुसरियव्वो पयत्तेणं ।।54।।

जागते, सोते, छींकते, बैठते, उठते, खड़े रहते, चलते, ठोकर खाते, नीचे गिरते इस परम मंत्र का अनुसरण निश्चयपूर्वक करना चाहिए, बारबार इसका स्मरण करना चाहिए ।

जेणेस नमुकारो पत्तो पुन्नाणुबंधिपुन्नेणं ।
नारयतिरियगइओ तस्सावस्सं निरुद्धाओ ।।55।।

पुण्यानुबंधी पुण्यवाली जिन आत्माओं ने इस नमस्कार को प्राप्त किया है, उनकी नरक और तिर्यंच गतियाँ तो अवश्य रुक गई हैं ।

न पुनरुत्तं पावइ कयाइ किर अयसनीयगुत्ताइं ।
जम्मंतेतरेरऽवि दुलहो तस्स न एसो नमुक्कारो ।।56।।

फिर कहा गया है कि जिसने नवकार को भाव से प्राप्त किया है, उसे बार–बार अपयश और नीच गोत्रादि की प्राप्ति नहीं होती है और जन्मातंर में भी उसे फिर से नवकार की प्राप्ति दुर्लभ नहीं होती है ।

जो पुण सम्मं गुणिउं नरो नमुक्कारलक्खमक्खंडं ।
पुएइ जिणं संघं बंधइ तित्थयरनामं सो ।।57।।

फिर जो मनुष्य अखंडित रूप से एक लाख बार नवकार को गिने और जिनेश्वरदेव और संघ की पूजा करे, वह मनुष्य तीर्थंकर नाम कर्म बाँधता है ।

हुंति नमुक्कारपभावओ य जम्मंतरेऽवि किर तस्स ।
जाहकुलरुवादरुग्गसंपयाओ पहाणाओ ।।58।।

नवकार के प्रभाव से जन्मांतर में भी प्रधान/(ऊँची) जाति, कुल, रूप, स्वास्थ्य और संपदाएँ प्राप्त होती हैं ।

ताव न जायइ चित्तेण चिंतियं पत्थियं च वायाए ।
काएणं पारद्धं जाव न सरिओ नमुक्कारो । ।59।।

चित्त में चिंतन किया हुआ, वचन से प्रार्थना किया गया, काया से प्रारंभ किया गया कार्य तब तक नहीं होता है, जब तक नवकार को स्मरण नहीं किया जाता है ।

अन्नं च इमाओ चिय न होइ मणुओ कयाइ संसारे ।
दासो पेसो दुभगो नीओ विगलिंदिओ चेव ।।60।।

इस नवकार से मनुष्य संसार में कभी दास, नौकर, अभागा, नीच या अपंग नहीं होता है ।

इह परलोयसुहयरो इहपरलोयदुहदलणपच्चलओ ।
एस परमेट्ठिविसओ भत्तिपउत्तो नमुक्करो ।।61।।

परमेष्ठी विषयक भक्तिप्रयुक्त यह नवकार इहलोक और परलोक में सुख देनेवाला है और इहलोक तथा परलोक के दुःखों को चूर–चूर कर देनेवाला है ।

किं वन्निएण बहुणा? तं नत्थि जयम्मि जं किर न सक्को ।
काउं एस जियाणं भत्तिपउत्तो नमुक्कारो ।।62।।

फिर अधिक वर्णन करने से क्या ? इस जगत् में ऐसी कोई भी

वस्तु नहीं है, जो भक्ति के साथ स्मरण किए गए नवकार से जीव को प्राप्त न होती हो ।

जइ ताव परमदुलहं संपाडइ परमपयसुहं पि इमो ।
ता तदणुसंगसज्झे तदन्नसुक्खम्मि गणणा? ।।63।।

परम दुलर्भ परमपद के सुखों को भी जब यह प्राप्त करा देता है, तो उसके अनुषंग से साध्य होनेवाले अन्य सुखों की क्या गिनती हो सकती है?

पत्ता पाविस्संती पावंति य परमपयपुरं जे ते ।
पंचनमुक्कारमहारहस्स सामत्थजोगेणं ।।64।।

परमपद को जो पा चुके हैं, पा रहे हैं या भविष्य में पाएंगे, वह सब पंचनमस्काररूपी महारथ के सामर्थ्य योग से ही है ।

सुचिरं पि तवो तवियं चिन्नं चरणं सुयं च बहुपढियं ।
जइ ता न नमुक्कारे रई तओ तं गयं विहलं ।।65।।

लम्बे समय तक तपश्चर्या की, चारित्र का पालन किया और अनेक शास्त्रों का अध्ययन किया लेकिन नवकार के प्रति रति न हुई, तो वह सब निष्फल होता है, यह जानना चाहिए ।

चउरंगाए सेणाए नायगो दीवगो जहा होइ ।
तह भावनमुक्कारो दंसणतवनाणचरणाणं ।।66।।

चतुरंग सेना के लिए जैसे सेनापति दीप के समान होता है, वैसे ही दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप की आराधना के लिए भाव–नमस्कार दीपक की तरह है ।

भाव नमुक्कारो विवज्जियाइं जीवेण अकयकज्जाइं ।
गहियाणि य मुक्काणि य अणंतसो दव्वलिंगाइं ।।67।।
तम्हा नाऊणेवं जत्तेणं तुमं पि भावणासारं ।
आराहणाकयमणो मणम्मि सुंदर! तयं धरसु ।।68।।

भावनमस्कार रहित जीव ने अनंत बार द्रव्यलिंग को निष्फल रूप में ग्रहण किया और छोड़ा, यह समझ कर हे सुंदर! तू आराधना के बारे में दत्तचित्त बनकर भावपूर्वक भाव नमस्कार को मन में धारण कर ।

हंहो देवाणुपिया! पुणरुत्त पत्थिओसि इत्थ तुमं ।
संसारजलहिसेउं सिढिलिज्जसु मा नमुक्कारं ।।69।।

हे देवानुप्रिय! बार–बार तुझसे प्रार्थना करते हैं कि संसारसागर में सेतु के समान नमस्कार के प्रति तेरा मन शिथिल आदत वाला न हो ।

जं एस नमुक्कारो जम्मजरामरणदारुण सरूवे ।
संसारारन्नम्मी न मंदपुन्नाण संपडइ ।।70।।

कारण यह है कि जन्म–जरा–मरण से भयंकर स्वरूपवाले इस संसाररूपी अरण्य में मंद पुण्यवान जीवों को यह नवकार प्राप्त नहीं होता है ।

विज्झइ राहा वि फुडं उम्मूलिज्जइ गिरी वि मूलाओ ।
गम्मइ गयणयलेणं, दुलहो य इमो नमुक्कारो ।।71।।

राधावेध को स्पष्ट रुप से बींधना कठिन नहीं है, पर्वत को मूल से उखाड़ना मुश्किल नहीं है, गगनतल में घूमना दुर्लभ नहीं है, लेकिन एक नवकार को पाना दुर्लभ है ।

सव्वत्थऽन्नत्थ विधीधणेण सरणंति एस सरियव्वो ।
सविसेसं पुण इत्थं समहिगयाऽऽराहणाकाले ।।72।।

किसी भी स्थल और काल में सर्वत्र विधिरूप धनवाले पुरुष को **'यही एक शरण है'** मानकर नवकार का स्मरण करना चाहिए । मृत्यु के समय की जानेवाली आराधना के काल में उसका विशेष स्मरण करना चाहिए ।

आराहणापडागागहणे हत्थो इमो नमुक्कारो ।
सग्गापवग्गमग्गो दुग्गइदारग्गला गरूई ।।73।।

नवकार, आराधनारूपी पताका को ग्रहण करने के लिए हाथ है, स्वर्गापवर्ग के लिए मार्ग है और दुर्गतियों के द्वारों को रोकने के लिए बड़ी अर्गला है ।

पढियव्वो गुणियव्वो सुणियव्वो समणुपेहियव्वो य ।
एसऽन्नया वि निच्चं किमंग पुण मरणकालम्मि ।।74।।

अन्य काल में नवकार नित्य पढ़ने, गिनने, सुनने और अच्छी तरह अनुप्रेक्षा/(चिंतन) करने लायक है, तो फिर मृत्युकाल के बारे में तो पूछना ही क्या ?

गेहे जहा पलित्ते सेसं मूत्तूण लेइ तस्सामी ।
एगं पि महारयणं आवइनित्थारणसमत्थं ।।75।।

घर में जब आग लगती है, तब घर का स्वामी जैसे शेष वस्तुओं को छोड़कर आपत्ति निवारण के लिए समर्थ होने वाले एक महारत्न को ही ग्रहण करता है ।

आउभएय सुहडो अमोहमिक्कं पि लेइ जह सत्थं ।
आबद्धभिउडिभडसंकडे रणे कज्जकरणखमं ।।76।।

जिनकी भृकुटियाँ तन गई हैं, ऐसे वीरों से व्याप्त हुआ वीर जैसे रणसंकट के समय कार्यसाधक एक ही अमोघ शस्त्र धारण करता है ।

एवं न आउरत्ते सक्का बारसविहं सुयक्खंधं ।
सव्वंपि विचिंतेउं सम्मं तग्गयमणोऽवि तओ ।।77।।

वैसे ही अंतकाल में होनेवाली पीड़ा के समय तद्गत मनवाला भी सकल द्वादशांग श्रुतस्कंध का विस्तार से चिंतन करने में समर्थ नहीं होता ।

मुत्तुं पि बारसंगं स एव मरणम्मि किरए सम्मं ।
पंचनमुक्कारो खलु जम्हा सो बारसंगत्थो ।।78।।

तब मरण समय में द्वादशांग को छोड़कर सम्यक् रीति से वह परमेष्ठि–नमस्कार का ही स्मरण करता है, क्योंकि वह द्वादशांग का ही सार है ।

सव्वं पि बारसंगं परिणामविशुद्धिहेउमेत्तागं ।
तक्कारणभावाओ कहं न तदत्थो नमुक्कारो ।।79।।

पूरा द्वादशांग परिणामविशुद्धि का हेतु मात्र है । नवकार भी उसी कारणस्वरूप होने से द्वादशांगगार्थ क्यों नहीं है ?

तग्गयचित्तो तम्हा समणुसरिज्जा विसुद्धसुहलेसा ।
तं चेव नमुक्कारं कयत्थयं मन्नमाणो उ ।।80।।

इसलिए तत्परचित्त और विशुद्ध लेश्यायुक्त बनकर आत्मा को कृतार्थ मानते हुए उस नवकार का ही सम्यक् रीति से बार–बार स्मरण करना चाहिए ।

को नाम किर सकन्नो कन्नामयसच्छहं नमुक्कारं ।
नो आयरिज्ज मरणे रणिव्व सुहडो जयपडागं ।।81।।

कौन ऐसा सकर्ण होगा जो मृत्यु के समय रण में जयपताका का ग्रहण करने वाले वीर की तरह कर्ण के लिए अमृत के छिड़काव तुल्य नमस्कार का आदर न करे ?

इक्कोऽवि नमुक्कारो परमेट्ठीणं पगिट्ठभावाओ ।
सयलं किलेसजालं जलं व पवणो पणुल्लेइ ।।82।।

प्रकृष्ट भाव से परमेष्ठियों को किया गया एक नमस्कार सकल क्लेश जाल को वैसे ही छेद डालता है, जैसे पवन पानी को सोख लेता है ।

संविग्गेणं मणसा अखलियफुडमणहरेण य सरेण ।
पउमासणिओ करबद्धजोगमुद्दो य काएणं ।।83।।
सम्मं संपुन्नं चिय समुच्चरिज्जा सयं नमुक्कारं ।
उस्सग्गेणेस विही अह बलगलणा तहा न पहू ।।84।।
तन्नामाणुग असिआउस त्ति पंचक्खरे तह वि सम्मं ।
निहुयं वि परावत्तिज्ज कह वि तत्थ वि असत्तो ।।85।।
ता झाइज्जा ओमिति संगहिया जं इमेण अरहंता ।
असरीरा आयरिया उज्झाया मुणिवरा सव्वे ।।86।।
एयन्नामाइनिसन्नवन्नसंधिप्पओगओ जम्हा ।
सव्वन्नुएहि एसो ओंकारो किर विणिद्दिट्ठो ।।87।।
एयज्झाणा परमेट्ठिणो फुडं झाइया भवे पंच ।
अहवा जो एयं पिहु ज्ञाएउं होइ असमत्थो ।।88।।

सो पासट्ठियकल्लाणमित्तवग्गेण पंचनवकारं ।
निसुणिज्ज पढिज्जंतं हिययम्मि इमं च भाविज्जा ।।89।।

अंत समय में संविग्न मन से, अस्खलित स्पष्ट और मधुर स्वर से तथा करबद्ध योगमुद्रा से युक्त पद्मासन में बैठकर सम्यक् प्रकार से संपूर्ण नवकार का स्वयं उच्चारण करना, यह उत्सर्ग विधि है। अथवा बल घटने से यदि ऐसा करने में समर्थ न हो तो परमेष्ठियों के नामों का अनुसरण करनेवाले **'असिआउसा'** इन पाँच अक्षरों को सम्यक् रीति से मन ही मन दोहराते जाएँ।

यदि किसी कारणवश ऐसा करने में भी सशक्त न हो तो **'ओम्'** इस एक अक्षर का ध्यान करें, क्योंकि इस एक अक्षर में अरिहंत (अ), अशरीरी–सिद्ध (अ), आचार्य (आ), उपाध्याय (उ), मुनि–साधु (म) ये सब संग्रहित हैं। इन पाँचों नामों के आद्याक्षरों की संधि से यह **'ओंकार'** बना हुआ है।

यही सर्वज्ञ परमात्माओं ने कहा है। इसका ध्यान करने से निश्चय ही पाँचों परमेष्ठियों का स्पष्टतः ध्यान होता है। अथवा यदि इस एक अक्षर का ध्यान करने में भी असमर्थ हो, तो पास में रहे कल्याणमित्रों के समुदाय से पंचनवकार को सुने और सुनते समय हृदय में उसी प्रकार की भावना करे।

एसो स सारगंठी एस कोवि हु दुलंभलंभुत्ति ।
एसो स इट्ठसंगो एयं तं परमतत्तं ति ।।90।।

नवकार यह सार की गठरी है। यह किसी दुर्लभ वस्तु की प्राप्ति है। यह नवकार मेरे लिए इष्ट का समागम है और यह नवकार परमतत्त्व है।

अहह तडत्थो जाओ मुणं भवजलहिणो अहं अज्ज ।
अन्नह किहं अहं कह व एस एवं समाओगो ।।91।।

अहा! आज मैं भवसागर का किनारा पा गया हूँ, अन्यथा कहाँ मैं, कहाँ यह और कहाँ उसके साथ मेरा समागम।

धन्नोऽहं जेण मए अणोरपारम्मि भवसमुद्दम्मि ।
पंचण्ह नमुक्कारो अचिंतचिंतामणि पत्तो ।।92।।

मैं धन्य हूँ कि मुझे अनादि–अनंत भवसमुद्र में अचिंत्य चिंतामणि रूप पाँच पदों का नमस्कार प्राप्त हो गया ।

किं नाम अज्ज अमयत्तणेण सव्वंगियं परिणओऽहं ।
किं वा सयलसहुमओ, कओ अकंडेऽवि केणावि ।।93।।

क्या मैं आज सभी अंगो के विषय में अमृतत्व से परिणत हुआ हूँ अथवा अकाल में ही किसी से सकल सुखमय कराया गया हूँ ?

इय परमसमरसापत्तिव्वमायन्निओ नमुक्कारो ।
निहणइ किलिट्ठकम्मं विसं व सियधारणाजोगो ।।94।।

इस प्रकार परम समरसापत्तिपूर्वक आचरित नमस्कार, जैसे शीतोपचार का प्रयोग विष का हनन करता है, वैसे क्लिष्ट कर्मों का नाश कर डालता है ।

जेणेस नमुक्कारो सरिओ भावेण अंतकालम्मि ।
तेणाहूयं सुक्खं दुक्खस्स जलंजली दिन्नो ।।95।।

अंतिम समय में जिसने नवकार का भावपूर्व स्मरण किया, उसने सुख को आमंत्रित किया और दुःख को जलांजलि दे दी ।

एसो जणओ जणणी य एस एसो अकारणो बंधू ।
एसो मित्तं एसो परमुवयारी नमुक्कारो ।।96।।

नवकार पिता है, नवकार ही माता है, नवकार अकारण बंधु है और नवकार ही हमारा परमोपकारी मित्र है ।

सेयाणं परं सेयं मंगल्लाणं च परममंगल्लं ।
पुन्नाण परमपुन्नं फलं फलाणं परमरम्मं ।।97।।

श्रेयों में परमश्रेय, मांगलिकों में परम मांगलिक, पुण्यों में परम पुण्य और फलों में परमरम्य फल भी यही नवकार है ।

तह एस नमुक्कारो इहलोगगिहाओ जीवपहियाणं ।
परलोयपहपयदट्ठाण परमपत्थयणसारित्थो (च्छा) ।।98।।

तथा इहलोकरूपी घर से निकल कर परलोक मार्ग पर चले रहे पथिकों के लिए परमपाथेय है ।

जह जह तस्स वण्णरसो परिणमइ मणम्मि तह तह कमेण ।
खयमेइ कम्मगंठी नीरनिहित्तामकुंभु व्व ।।99।।

जैसे–जैसे उसके (नवकार के) वर्णों के रस का मन पर परिणाम होता जाता है, वैसे–वैसे जीव की कर्मग्रंथि पानी से भरे हुए कच्चे मिट्टी के घड़े की तरह नष्ट होती है ।

तवनियमसंजमरहो पंचनमुक्कार सारहिपउत्तो ।
नाणतुरंगमजुत्तो नेइ नरं निव्वुइनयरं ।।100।।

पंचनमस्काररूपी सारथी से युक्त, ज्ञानरूपी घोड़ों से युक्त तप, नियम और संयम रूपी रथ मनुष्य को निवृत्तिनगरी में ले जाता है ।

जलणोऽवि हुज्ज सीओ पडिपहहुत्त च होज्ज सुरसरिया ।
न य नाम नि (खि) ज्जइ इमो परमपयपुरं नमुक्कारो ।।101।।

शायद कभी अग्नि शीतल हो सकती है, सुरसरिता–आकाशगंगा शायद संकीर्ण मार्ग वाली हो सकती है, लेकिन यह नवकार परमपद पुर न ले जाए, ऐसा कभी नहीं होता ।

आराहणापुरस्सरमणन्नहियओ विसुद्धसुहलेसो ।
संसारच्छेयकरंता मा सिढिलसु नमुक्कारं ।।102।।

अनन्य हृदय और विशुद्ध लेश्या से आराधना करने पर यह नवकार संसार का उच्छेद करनेवाला है । इसलिए इसके प्रति शिथिल न बने, उस पर मंद आदर न करो ।

एसो हि नमुक्कारो कीरइ नियमेण मरणकालम्मि ।
जं जिणवरेहि दिट्ठो संसारुच्छेयणसमत्थो ।।103।।

श्री जिनेश्वर ने देखा हैं कि मृत्यु समय ध्यान किया जाने वाला नवकार संसार का उच्छेद करने में अवश्य समर्थ है ।

अक्खेवेणं कम्मक्खओ य तह मंगलागमो नियमा ।
तक्कालिच्चिय सम्मं पंचनमुक्कारकरणफलं ।।104।।

पंचनवकार का ध्यान करने का तात्कालिक फल शीघ्र कर्म का क्षय और निश्चित रूप से मंगल का आगमन है ।

कालंतरभाविफलं तहविहमिहभवियमन्नभवियं च ।
इहभवियमत्थकामा उभयभवसुहावहा सम्मं ।।105।।

उसका कालांतर में मिलनेवाला भावी फल दो प्रकार का है–1. इस भव संबंधी, 2. अन्य भव संबंधी । इस भव संबंधी फल दोनों (वर्तमान और आनेवाले भवों में सम्यक् सुख को देनेवाले अर्थ–काम की प्राप्ति है ।

इहभवसुहावहा तत्थ ताव अकिलेसभवणओ ताणं ।
आरुग्गपुव्वगं तह निव्विग्घं ताण माणणओ ।।106।।
परभवसुहावहा पुण सुत्तविहीए सुठाणविणिओगा ।
पंचनमुक्कारफलं अह मन्नइ अन्नभवियं पि ।।107।।

(यह) इस भव में सुख देनेवाला यानी बिना क्लेश या अल्प क्लेश से मिलनेवाला रोगरहित और विघ्नरहित ढंग से उपभोग योग्य, सूत्रोक्त विधि के अनुसार सुंदर स्थानों में सत्क्षेत्रों में विनियोग होनेवाला और परमसुख देनेवाला है ।

जइवि न तज्जम्मे च्चिय सिद्धिगमो कहवि जायए तहवि ।
पत्तनमुक्कारा इक्कसिं पि किर तमविराहिंता ।।108।।
उत्तमदेवेसु तहा कुलेसु विउलेसु अतुलसुहकलिया ।
हिंडित्ता पज्जंते सिज्झंति चेव विहुयरया ।।109।।

अब अन्य भवों के बारे में पंच नमस्कार का फल यह है कि नमस्कार को पानेवाली और उसकी विराधना न करनेवाली आत्मा (जीव) किसी कारणवश उसी भव में सिद्धिगति न पाए तो उत्तम देवकुल में उत्पन्न होती है और वहाँ से विपुल कुलों में अतुल सुख से युक्त मनुष्यभव पाती है । अंत में कर्मरहित होकर वह सिद्धिगति पा लेती है ।

इह पुण परमत्थेणं नाणावरणाइयाण कम्माणं ।
पइखणमणंतपुग्गलविगमम्मी जायमाणम्मि ।।110।।

पाउणइ नमुक्कास्स पढमवन्नं नवकारमह सेसे ।
वन्ने पत्तेयं चिय तहऽणंत विसुद्धिसब्भावे ।।111।।

ज्ञानावरणीय आदि कर्मों के अनंत पुद्गलों का प्रतिक्षण नाश होने से परमार्थ से नवकार के प्रथम अक्षर **'न'** कार का लाभ होता है । शेष प्रत्येक अक्षर का लाभ भी क्रमशः अनंत गुणविशुद्धि होने से होता है ।

एवं इक्केकं पिहु अक्खरमच्चंतकम्मखयलब्भं ।
जस्स स कहं न वंछियफलदाइं होइ नवकारो ।।112।।

इस प्रकार जिसका एक–एक अक्षर अत्यंत कर्मक्षय से मिलता है, वह नवकार किसे वांछित फलदायी नहीं होगा ?

एवं च उभयलोगेऽवि सुक्खमूलं इमं मुणेऊण ।
आराहणाभिलासी भद्द! तुमं सइ सरिज्ज जओ ।।113।।
पंचण्ह नमुक्कारो जीवं मोएइ भवसहस्साओ ।
भावेण कीरमाणो होइ पुणो बोहिलाभाय ।।114।।

इस प्रकार दोनों लोकों के लिए **'सुख का मूल है'** यह जानकर हे आराधनाभिलाषी ! तू इसका निरंतर स्मरण कर, क्योंकि पंचपरमेष्ठियों को किया गया नमस्कार जीव को हजारों भवों से बचाता है । तथा भावपूर्वक किया जानेवाला नमस्कार बोधिलाभ देनेवाला होता है ।

पंचण्ह नमुक्कारो धन्नाण भवक्खयं करिंताणं ।
हिययं अणुम्मुयंतो विसुत्तियावारओ होइ ।।115।।

पंचपरमेष्ठियों को किया गया नमस्कार, धन्य पुरुषों के लिए भवक्षय कराता है और उसे हृदय से नहीं छोड़नेवाले के लिए वह विश्रोतसिकाचित्त के उन्मार्गगमन को रोकनेवाला सिद्ध होता है ।

पंचण्ह नमुक्कारो एवं खलु वन्निओ महत्थुत्ति ।
जो मरणम्मि उवगए अभिक्खणं कीरए बहुसो ।।116।।

इस प्रकार पंच नमस्कार महान् अर्थवाला है, ऐसा वर्णन शास्त्रों में किया गया है । इसलिए जब मृत्यु का अवसर निकट आया हुआ लगता है, तब उसका निरंतर और बार–बार स्मरण कराया जाता है ।

सत्तपण सत्तसत्त य नवक्खरपमाणपयडं पंचपयं ।
अक्खरतित्तिसवरचूलं सुमरह नवकारवरमंतं ।।117।।

जिसके प्रकट पाँच पद सात, पाँच, सात, सात और नौ अक्षर हैं और जिसकी चूलिका तैंतीस अक्षरों की है, ऐसे उत्तम नवकारमंत्र का तुम निरंतर ध्यान करो ।

इय संविग्गसिरोमणि जिणेसरायरियपायपंकयब्भसलो ।
भणइ जिणचंदसूरि दुरिकयकलिमलं नमुक्कारफलं ।।118।।

इस प्रकार संविग्नशिरोमणि श्री जिनेश्वर सूरि के चरण–कमलों में जो भ्रमर के समान है ऐसे श्री जिनचंद्रसूरि ने पापमलनाशक नवकार का फल कहा है ।

।। इति श्री ज्येष्ठ पंचनमस्कार फलप्रकरणं सार्थं समाप्तम् ।।

17

महामंत्र–महिमा

श्री रत्नमंदिरगणिरचित उपदेशतरंगिणी

विमुच्य निद्रा चरमे त्रियामा–यामार्धभागे शुचिमानसेन ।
दुष्कर्मरक्षो दमनैकदक्षो, ध्येयस्त्रिधा श्रीपंचपरमेष्ठिमंत्रः ।।1।।

अर्थ :– रात्रि के अंतिम प्रहर के अर्धभाग के बाद निद्रा त्याग कर दुष्ट कर्म रूपी राक्षसों का दमन करने में अद्वितीय चतुर श्री परमेष्ठि–मंत्र को पवित्र मन मन–वचन और काया से स्मरण करना चाहिए ।

किमत्र मंत्रौषधिमूलिकाभिः किं गारुडस्वर्गमणीन्द्रजालैः ?
स्फुरन्ति चित्ते यदि मंत्रराज–पदानि कल्याणपदप्रदानि ।।2।।

अर्थ :– जब चित्त में कल्याणपद को देनेवाले पंचपरमेष्ठी–नमस्कार रूपी मंत्रराज के पद स्फुरित होते हैं, तो फिर मंत्र और औषधियों के मूल गारुड़, चिंतामणि अथवा इंद्रजाल का क्या काम है ? अर्थात् इनका काम समाप्त हो गया ।

श्रीमन्नमस्कारपदानि सर्व, सिद्धांतसाराणि नवापि नूनम् ।
आद्यानि पंचातिमहान्ति तेषु, मुख्यं महाध्येयमिहामनन्ति।।3।।

अर्थ :– श्री नमस्कार के सभी नौ पद सचमुच, सभी सिद्धातों के सारभूत हैं । उनमें पहले पाँच पद अत्यंत महान् हैं । सत्पुरुष उन्हें मुख्य महाध्येय के रूप में स्वीकार करते हैं ।

पञ्चतायाः क्षणे पंच, रत्नानि परमेष्ठिनाम् ।
आस्ये ददाति यस्तस्य, सद्गतिः स्याद्भवान्तरे ।।4।।

अर्थ :– मरण के समय जो मुख में पाँच परमेष्ठी रूपी पाँच रत्नों को धारण करता है, उसकी भवान्तर में सद्गति होती है ।

पंचादौ यत्पदानि त्रिभुवमपतिभिर्व्याहृता पंचतीर्थी,
तीर्थान्येवाष्टषष्टि–र्जिनसमयरहस्यानि यस्याऽक्षराणि ।

यस्याष्टौ सम्पदश्चानुपमतमहासिद्धयोऽद्वैत शक्ति–
र्जीयाल्लोकद्वयस्याऽभिलषितफलदः श्रीनमस्कार मंत्रः ।।5।।

अर्थ :– दोनों लोकों में इच्छित फल देनेवाला अद्वितीय शक्तिमान श्री नमस्कार मंत्र विजयी हो ।

इसके पहले पाँच पदों को त्रैलोक्यपति श्री तीर्थंकरदेवों ने पंचतीर्थी (अरिहंत के आद्य अक्षर **'अ'** से अष्टापदतीर्थ, सिद्ध के आद्य अक्षर **'सि'** से सिद्धाचल, आचार्य के आद्य अक्षर **'आ'** से आबूजी, उपाध्याय के आद्य अक्षर **'उ'** से उज्जयन्त अर्थात् गिरनारजी और साधु के आद्य अक्षर **'स'** से सम्मेतशिखर ये पाँच तीर्थ) के रूप में कहा है ।

जिन सिद्धांत के रहस्य सारभूत अड़सठ अक्षरों को अड़सठ तीर्थों के रूप में वर्णन किया है और उसकी आठ संपदाओं को अज्ञान अधंकार का नाश करनेवाली आठ सिद्धियाँ बताया है ।

भोअणसमए सयणे, विबोहणे पवेसणे भए वसणे ।
पंच नमुक्कारं खलु समरिज्जा सव्वकालंपि ।।6।।

अर्थ :– भोजन, शयन, निद्रा त्याग समय, प्रवेश, भय, कष्ट, आदि सभी समयों में सचमुच श्रीपंच नमस्कार का स्मरण करना चाहिए ।

याताः प्रयान्ति यास्यन्ति, पार संसारवारिधेः ।
परमेष्ठि नमस्कारं, स्मारं स्मारं घना जनाः ।।7।।

अर्थ :– परमेष्ठि–नमस्कार का बार–बार स्मरण कर/ध्यान कर अनेक लोग संसारसागर पार कर गए हैं, पार करते जा रहे हैं और भविष्य में भी पार कर जाएंगे ।

स्वस्यैकच्छत्रतां विश्वे, पापानि विमृशन्तु मा ।
अघमर्षणमन्त्रेऽस्मिन्, सति श्री जिनशासने ।।8।।

अर्थ :– श्री जैनशासन में पापनाशक यह मंत्र होने से, विश्व में अपनी एतछत्रता के बारे में पापों को सोचना भी नहीं चाहिए ।

सिंहेनेव मदान्धगन्धकरिणो मित्रांशुनेव क्षपा–
ध्वान्तौघो विधुनेव तापततयः कल्पद्रुणेवाऽऽधयः ।

तार्क्ष्येणेव फणाभृतो घनकदम्बेनेव दावाग्नयः ।
सत्त्वानां परमेष्ठिमंत्रमहसा वल्गन्ति नोपद्रवाः ।।9।।

अर्थ :– जैसे सिंह से मदोन्मत्त हाथी, सूरज से रात्रि के अंधकार का समूह, चंद्रमा से ताप–संताप का समूह, कल्पवृक्ष से मन की चिंताएँ, गरूड़ से फनधारी साँप और मेघसमुदाय से अरण्य का दावानल शांत होता है, वैसे श्री पंचपरमेष्ठी–मंत्र के तेज से प्राणियों का उपद्रव नष्ट होता है ।

संग्रामसागर–करीन्द्र भुजङ्गसिंह, दुर्व्याधिवह्निरिपुबंधनसंभवानि ।
चौरग्रहभ्रम–निशाचरशाकिनीनां,नश्यन्ति पञ्च परमेष्ठीपदैर्भयानि ।।10।।

अर्थ :– पंचपरमेष्ठियों के पदों से रणसंग्राम, सागर, हाथी, सर्प, सिंह दुष्ट व्याधि, अग्नि, शत्रु, बंधन, चोर, ग्रह, भ्रम, राक्षस और शाकिनी आदि से होनेवाले भय दूर भाग जाते हैं ।

ध्यातोऽपि पापशमनः परमेष्ठिमंत्रः,
किंस्यात्तप प्रबलितो विधिनाऽर्चितश्च ?
दुग्धं स्वयं ही मधुरं क्वथितं तु युक्त्या,
संमिश्रितं च सितया वसुधासुधेव ।।11।।

अर्थ :– स्मरण करने मात्र से परमेष्ठिमंत्र पाप का शमन करनेवाला बनता है । तो फिर तप से प्रबल किया हुआ और विधिपूर्वक पूजन किया हुआ वह क्या नहीं कर सकता ? दूध स्वतः मीठा होता है, लेकिन युक्ति से उबाला हुआ और चीनी से मिश्रित दूध तो पृथ्वी के अमृत समान बन जाता है ।

आकृष्टिं सुरसम्पदां विदधती मुक्तिश्रियो वश्यता,
मुच्चाटं विपदा चतुर्गतिभुवां विद्वेषमात्मैनसाम् ।
स्तम्भं दुर्गमनं प्रति प्रयततो मोहस्य संमोहनम्,
पायात् पंचनमस्क्रियाऽक्षरमयी साऽऽराधनादेवता ।।12।।

अर्थ :– वह परमेष्ठि–नमस्कार रूप अक्षरमयी आराधना देवता तुम्हारी रक्षा करें । यह देवता सुरसंपदाओं का आकर्षण है, मुक्तिरूपी

लक्ष्मी को वश में करता है, विपदाओं का उच्चाटन करता है, संसार की चार गतियों में उत्पन्न होनेवाले आत्मा के दुश्मनों के प्रति द्वेष धारण करता है, दुर्गति की ओर गमन करने का प्रयत्न करनेवाले जीवों को रोकता है और मोह का संमोहन है अर्थात् मोह का प्रतिकार करता है ।

यो लक्षं जिनबद्धलक्ष्यसुमनाः सुव्यक्तवर्णक्रमम्,
श्रद्धावान् विजितेन्द्रियो भवहरं मंत्र जपेच्छ्रावकः ।
पुष्पैः श्वेतसुगंधिभिश्च विधिना लक्षंप्रमाणैर्जिनं,
यः संपूजयते स विश्वमहितः श्री तीर्थराजो भवेत् ।।13।।

अर्थ :– जिसने जिनेश्वर के प्रति अपना ध्यान एकाग्र किया है, ऐसे सुंदर मन वाला जितेंद्रिय और श्रद्धावान् श्रावक सुस्पष्ट और वर्णोच्चारकपूर्वक संसार का नाश करनेवाले पंचपरमेष्ठि–नमस्कार का एक लाख बार जप करता है और लाख सुगंधीत पुष्पों से श्री जिनेश्वरदेव की विधिपूर्वक सम्यक् प्रकार से पूजा करता है, वह त्रिभुवनपूज्य तीर्थंकर बनता है ।

स्वस्थाने पूर्णमुच्चारम्, मार्गे चार्धं समाचरेत् !
पादमाकस्मिकातङ्गे, स्मृतिमात्रं मरणान्तिके ।।14।।

अर्थ :– अपने स्थान में हो तो पूर्ण उच्चारण के साथ, मार्ग में हो तब अर्द्ध उच्चारण के साथ, अकस्मात् आतंक अर्थात् तीव्र रोग या बीमारी आए, तब एक चौथाई उच्चारणपूर्वक और मरणान्तिक या मृत्युतुल्य पीड़ा के समय मानसिक स्मरण मात्र के साथ नवकार का जाप करना चाहिए ।

श्रीसुकृत सागर अर्थात् पेथडचरित्र (पञ्चमस्तरङ्गः)

मन्त्रपञ्चनमस्कारः, कल्पकारस्कराधिकः ।
अस्ति प्रत्यक्षराष्टाग्रो–त्कृष्टविद्यासहस्रकः ।।76।।

कल्पवृक्ष से भी अधिक महिमायुक्त पंचपरमेष्ठि–नमस्कार के प्रत्येक अक्षर पर एक हजार आठ विद्याएँ रही हुई हैं ।

चौरो मित्रमहिर्माला, वह्नीर्वारिर्जलं स्थलम् ।
कान्तारं नगरं सिंहः शृगालो यद् प्रभावतः ।।77।।

इसके प्रभाव से चोर मित्र बनता है, सर्प माला बनता है, अग्नि जलस्वरूप और जल स्थलस्वरूप बनता है, अरण्य नगर और सिंह सियार बनता है,

लोकद्विष्टप्रियावश्यघातकादेः स्मृतोऽपि यः ।
मोहनोच्चाटनाकृष्टिं–कार्मणस्तंभतादिकृत् ।।78।।

लोकद्विष्ट और प्रियघातक आदि को नमस्कार मात्र का स्मरण भी लोक में प्रीति उत्पन्न करता है, शत्रुओं को मूल से दूर करता है, इष्ट को खींच लाता है, वश में न होनेवाले को वश में कर देता है और मारने के लिए आनेवाले को रोक देता है ।

दूरयत्यापदः सर्वाः पूरयत्यत्र कामनाः ।
राज्यस्वर्गाऽपवर्गास्तु, ध्यातो योऽमुत्र यच्छति ।।79।।

इस मंत्र का किया गया ध्यान इस लोक में सभी आपदाएँ दूर करता है, सभी कामनाएँ पूर्ण करता है और परलोक में राज्यादि और स्वर्गापवर्गादि (स्वर्ग और मोक्ष आदि) का सुख देता है ।

श्रीपार्श्वप्रतिमापूजा–धूपोत्क्षेपादिपूर्वकम् ।
तमेकाग्रमनाःपूत, वपुर्वस्त्राऽनिशं तपः ।।80।।

श्री पार्श्वनाथ भगवान् की प्रतिमा की पूजा तथा धूपोत्क्षेपादिपूर्व शरीर और वस्त्र पवित्र कर एकाग्र मन से तू निरंतर उस मंत्र का जप कर ।

प्रकीर्णक

पंचनमुक्कार समं अन्ते, वच्चन्ति जस्स दस पाणा ।
जो जइ न जाइ मुक्खं, अवस्स वेमाणिओ होइ ।।81।।

अंत समय में जिसके दस प्राण पंचनमस्कार के जप के साथ जाते हैं, वह मोक्ष न पा सके, तो अवश्य वैमानिक होता है अर्थात् विमानाधिपति देवता होता है ।

अहो पंच नमस्कारः, कोप्युदारो जगत्सु यः ।
सम्पदोऽष्टौ स्वयं धत्ते, दत्तेऽनन्तास्तु ताः सताम् ।।1।।

अहो! इस जगत् में पंच नमस्कार कितना उदार है कि वह स्वयं आठ ही संपदाएँ धारण करता है, लेकिन सत्पुरुषों को अनंत संपदाएँ प्रदान करता है ।

जैन हिन्दी साहित्य दिवाकर मरुधररत्न, पू. आचार्यदेव श्रीमद् विजय रत्नसेनसूरीश्वरजी म.सा.

द्वारा मुख्यतया हिन्दी भाषा में आलेखित 226 पुस्तकों में से उपलब्ध एवं अवश्य पठनीय साहित्य-सूची

Sr. No.	पुस्तक का नाम	मूल्य	Sr. No.	पुस्तक का नाम	मूल्य
1.	चिंतन का अमृत-कुंभ	80/-	34.	अमृत रस का प्याला	300/-
2.	पंच-प्रतिक्रमण (भाग-1)	100/-	35.	श्रावक का गुण सौंदर्य	125/-
3.	पंच-प्रतिक्रमण (भाग-2)	100/-	36.	ध्यान साधना	40/-
4.	पंच-प्रतिक्रमण (भाग-3)	125/-	37.	आग और पानी-भाग-1-2	115/-
5.	पंच-प्रतिक्रमण (भाग-4)	135/-	38.	शांत सुधारस-हिन्दी -भाग-1-2	140/-
6.	आओ ! प्राकृत सीखें भाग-1	125/-	39.	शत्रुंजय यात्रा (तृतीय आवृत्ति)	40/-
7.	आओ ! प्राकृत सीखें भाग-2	85/-	40.	आओ संस्कृत सीखें भाग-1	100/-
8.	विविध-तपमाला	100/-	41.	आओ संस्कृत सीखें भाग-2	220/-
9.	विवेकी बनो	90/-	42.	प्रेरक-प्रवचन	80/-
10.	बीसवी सदी के महान योगी	300/-	43.	दंडक सूत्र	50/-
11.	परम-तत्व की साधना भाग-3	160/-	44.	जीव विचार विवेचन	60/-
12.	श्रमण-क्रिया के मुख्य सूत्र	200/-	45.	नव तत्त्व-विवेचन	60/-
13.	प्रवचन-वर्षा	60/-	46.	लघु संग्रहणी (जैन भूगोल)	100/-
14.	मोक्ष-मार्ग के कदम	120/-	47.	कल्पसूत्र के हिन्दी प्रवचन	240/-
15.	आओ श्रावक बनें !	25/-	48.	पर्युषण अष्टाह्निका प्रवचन	120/-
16.	व्यसन-मुक्ति	100/-	49.	गणधर-संवाद	80/-
17.	श्रावक जीवन दर्शन	250/-	50.	आओ ! उपधान पौषध करें !	55/-
18.	शंका-समाधान (भाग-4)	60/-	51.	नवपद आराधना	80/-
19.	जैन-महाभारत	130/-	52.	पहला कर्मग्रंथ	100/-
20.	महावीर प्रभु की पट्टधर-परंपरा (1 से 9)	300/-	53.	दूसरा-तीसरा कर्मग्रंथ	55/-
21.	महावीर प्रभु की पट्टधर-परंपरा (10 से 40)	275/-	54.	पाँचवाँ कर्मग्रंथ	100/-
22.	महावीर प्रभु की पट्टधर-परंपरा (41 से 57)	275/-	55.	संस्मरण	50/-
23.	महावीर प्रभु की पट्टधर-परंपरा (58 से 80)	280/-	56.	भव आलोचना	10/-
24.	सात वासुदेव-प्रतिवासुदेव बलदेव	50/-	57.	आध्यात्मिक पत्र	60/-
25.	प्रतिक्रमण उपयोगी संग्रह	80/-	58.	आत्म-उत्थान का मार्ग-भाग-1	125/-
26.	सुखी जीवन के Mile-Stone	100/-	59.	आत्म-उत्थान का मार्ग-भाग-2	175/-
27.	समाधि मृत्यु	80/-	60.	आत्म-उत्थान का मार्ग-भाग-3	150/-
28.	The Way of Metaphysical Life	60/-	61.	इन्द्रिय पराजय शतक	50/-
29.	Pearls of Preaching	60/-	62.	अर्हद् दिव्य-संदेश (दीक्षा-विशेषांक)	60/-
30.	New Message for a New Day	600/-	63.	'बेंगलोर' प्रवचन-मोती	140/-
31.	Celibacy	70/-	64.	तीन भाष्य (हिन्दी विवेचन)	150/-
32.	Panch Pratikraman Sootra	60/-	65.	जीव-विचार-विवेचन	100/-
33.	श्रीपाल-रास और जीवन-चरित्र	160/-	66.	श्री नमस्कार महामंत्र	180/-

पुस्तक प्राप्ति स्थान : दिव्य सन्देश प्रकाशन C/o. सुरेन्द्र जैन, Office No. 304, 3rd Floor, बे व्यु बिल्डींग, विंग-ईस्ट बे, डॉ. एम.बी. वेलकर स्ट्रीट, कालबादेवी, मुंबई-400 002. Mobile : 8484848451 (only whatsapp)

Kamal PRINTER'S M. 9820530299